तिपिटक में सम्यक संबुद्ध

भाग-२

विपश्यना विशोधन विन्यास

तिपिटक में सम्यक संबुद्ध (भाग - २)

विषय-सूची

भूमिका [१]

संकेत-सूची [९]

इतिपि सो भगवा सम्मासम्बुद्धो ११५

प्रत्येक बुद्ध ११९

तापस सुमेध ११९

कैसे प्राप्त हुई यह सम्यक संबोधि? १२१

संबोधि कैसे जागी? १२२

चारों आर्यसत्यों की अनुभूति बिना मुक्ति संभव नहीं १३७

आर्य अष्टांगिक मार्ग १३९

एक आर्यसत्य में चारों समाये हैं १४०

आर्यसत्य सत्य हैं १४२

चार आर्यसत्य वास्तविक दर्शन हैं १४३

इतिपि सो भगवा विज्जाचरणसम्पन्नो १५७

विद्या-संपन्न १६७

चरणसंपन्न १६९

भगवान की महती करुणा १७०

चातुर्वर्णी शुद्धि १७१

ब्राह्मण १७२

ऋषि असित देवल १७३

ब्रह्मा के औरस पुत्र १७५

सही माने में मुखतो जातो क्या है?	१७७
गया काश्यप	१८१
वंगीस	१८२
बुद्ध की संतान ब्राह्मण	१८२
अंगुलिमाल	१८४
अग्गिक भारद्वाज	१८६
दासी पूर्णा	१८७
रोहिणी पिता	१८७
एक अनुमान	१८८
ब्राह्मण शब्द का अर्थ कैसे बिगड़ा?	१९१
चातुर्वर्णी विशुद्धि	१९३
आश्वलायन	१९५
प्रसेनजित	१९६
पंचवर्गीय भिक्षु	१९७
यश और उसके मित्र	१९९
धर्मचारिका	२००
भद्रवर्गीय कुमार	२००
काश्यप बंधु	२०१
शूद्रातिशूद्रों की विशुद्धि, विमुक्ति	२०१
सोपाक	२०४
सुनीत	२०४
सभी नरोत्तम	२०६
उपालि	२०८
विरोध भी हुआ	२०८
मिथ्या जाति अभिमान	२०८
अंबष्ठ माणवक	२०९
अग्गिक भारद्वाज	२१५
सुंदरिक भारद्वाज	२१८
...नि भारद्वाज	२२२
पतनोन्मुख श्रमणाचार्य	२२३
मागण्डिय	२२४
संगारव माणव	२२५
धनंजानी ब्राह्मणी	२२७
आक्रोशक भारद्वाज	२२८
विद्या और चरण; सिद्धि और करुणा	२२९
द्रोण ग्राम	२३३
जब भगवान को भिक्षा नहीं मिली	२३४
वेरंजा	२३४
वेरहच्चानि	२३५
मिथ्या मान्यताओं के शिकार	२३६
वासिष्ठ और भारद्वाज	२३८
प्रव्रजित वासिष्ठ और भारद्वाज	२४६
मनुष्य की जाति एक है	२४७
सेवा धर्म	२४९
एसुकारी ब्राह्मण	२५०
स्वधन	२५२
केवल प्रचार-घोष	२५४
सेना में भर्ती	२५६
पांच प्रकार के ब्राह्मण	२५७
(१) ब्रह्मसम ब्राह्मण	२५७
(२) देवसम ब्राह्मण	२५७
(३) मर्यादावान ब्राह्मण	२५८
(४) मर्यादा को तोड़ने वाले ब्राह्मण	२५८
(५) चांडाल ब्राह्मण	२५८
पशुओं से भी हीन	२५९

हिंदी शब्दानुक्रमणिका

पालि शब्दानुक्रमणिका [७]
संदर्भ सूची [११]
नामों की अनुक्रमणिका [१३]
विपश्यना साधना केंद्र [१८]

सुत्तन्तेसु असन्तेसु, पमुट्ठे विनयम्हि च।
तमो भविस्सति लोके, सूरिये अत्थङ्गते यथा॥
(अ० नि० अट्ठ० १.१.१३०, दुतियपमादादिवग्गवण्णना)

- धर्मसूत्र विद्यमान न रहने पर और धर्मपालन विस्मृत हो जाने पर संसार में सूर्यास्त सदृश अंधकार छा जाता है।

सुत्तन्ते रक्खिते सन्ते, पटिपत्ति होति रक्खिता।
पटिपत्तियं ठितो धीरो, योगक्खेमा न धंसति॥
(अ० नि० अट्ठ० १.१.१३०, दुतियपमादादिवग्गवण्णना)

- धर्मसूत्र सुरक्षित रहने पर प्रतिपत्ति यानी साधना का प्रतिपादन सुरक्षित रहता है। प्रतिपादन में लगा हुआ धीर व्यक्ति योगक्षेम से वंचित नहीं होता है।

भूमिका

"तिपिटक में सम्यक सम्बुद्ध", "तिपिटक में सद्धर्म" और "तिपिटक में आर्यसंघ" वस्तुतः तिपिटक की भूमिकाएं ही हैं। लंबी भूमिकाएं हैं जिन्हें पाठकों की सुविधा के लिए दो-दो भागों में प्रकाशित किया जा रहा है। इनके लिए एक छोटी-सी भूमिका और लिखनी आवश्यक समझी गयी। इसी के परिणामस्वरूप ये चंद शब्द हैं।

लगभग चालीस वर्ष पूर्व सितंबर, १९५५ में जब मैंने पहली बार परम पूज्य गुरुदेव सयाजी ऊ बा खिन के चरणों में बैठ कर विपश्यना के शिविर में भाग लिया तब यह देख कर सुखद आश्चर्य से अभिभूत हो उठा कि भगवान बुद्ध का यह प्रयोगात्मक प्रशिक्षण कितना निर्मल है, निर्दोष है! कितना निश्छल है, निष्कलंक है! कितना सार्वजनीन है, सार्वभौमिक है! कितना सार्वकालिक है, सनातन है और कितना वैज्ञानिक तथा आशुफलदायी है!

बचपन से यही सुनता और मानता आया था कि भगवान बुद्ध ईश्वर के नौवें अवतार हैं। इसलिए हमारे लिए पूज्य हैं, अतः भगवान बुद्ध के प्रति सहज श्रद्धा थी। घर के बड़े बुजुर्गों के साथ मांडले (बर्मा) में भगवान बुद्ध के महामुनि मंदिर में जाकर उनकी प्रतिमा के शांत, सौम्य, स्निग्ध चेहरे का दर्शन कर, सादर नमन करना तथा अत्यंत भक्तिभाव से फूल चढ़ाना और दीप जलाना बहुत प्रिय लगता था। परंतु साथ-साथ बचपन में ही मानस पर यह भी एक लेप लगा दिया गया था कि भगवान बुद्ध परम पूज्य और प्रणम्य हैं तो भी उनकी शिक्षा हमारे लिए ग्राह्य नहीं है। यह मान्यता कितनी मिथ्या साबित हुई।

अवश्य ही किसी पुराने पुण्य का फलोदय हुआ जिसके कारण ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हुई कि दस दिन के लिए मां विपश्यना की सुखद गोद में जा बैठा। काम, क्रोध और अहंकार के अंतस्ताप से सतत तापित, संतापित रहने वाले मानस को दस दिनों में ही जो शांति प्राप्त हुई, उससे हर्ष-विभोर हो उठा। शिविर में सम्मिलित होने के पूर्व परम पूज्य गुरुदेव ने विपश्यना

विद्या की जो रूपरेखा समझायी, वह बड़ी निर्दोष लगी। फिर भी बचपन से लगे हुए पुराने लेपों के कारण मन में कुछ झिझक थी ही। परंतु दस दिन पूरे होने पर यह देख कर मन बड़ा प्रसन्न, संतुष्ट हुआ कि इस मार्ग में कहीं कोई दोष है ही नहीं। विपश्यना का सारा पथ सर्वथा निष्कलुष और निर्दोष है। अतः गृहस्थ हों या संन्यासी सबके लिए सर्वथा ग्राह्य है, उपयोगी है।

भगवान बुद्ध की ऐसी निर्दोष शिक्षा के प्रति मन में जो अनेक मिथ्या भ्रांतियां थीं, उनका निराकरण हुआ। आखिर शील-सदाचार का जीवन जीने में क्या दोष है भला! सहज स्वाभाविक सांस के आवागमन के प्रति सजग रहते हुए चित्त को एकाग्र कर समाधिस्थ हो जाने में क्या दोष है भला! शरीर और चित्त के पारस्परिक प्रभाव-क्षेत्र का यथाभूत दर्शन करते हुए अंतर्मन की गहराइयों में विकारों के तथा तज्जन्य व्याकुलता के प्रजनन और संवर्धन का निरीक्षण करते हुए इस प्रपंच के प्रति अनित्यबोधिनी प्रज्ञा जगा लेने में क्या दोष है भला! इस अनुभवजन्य प्रज्ञा के आधार पर समता में स्थित होकर मन को विकार-विमुक्त बना लेने में तथा यों निर्मलचित्त हुए साधक द्वारा इंद्रियातीत नित्य, शाश्वत, ध्रुव अवस्था का साक्षात्कार कर सकने की क्षमता प्राप्त कर लेने में क्या दोष है भला! इस निर्दोष पथ पर उठाया हुआ हर कदम कल्याणकारी है।

एक धर्मभीरु परिवार में जन्मा और पला, इस कारण खूब समझता था कि शील-सदाचार का पालन अवश्य करना चाहिए। इसके लिए आवश्यक मनोबल बढ़ाने की विधि इस शिविर में सीखी। चित्त की एकाग्रता और विकार-विमुक्ति का लक्ष्य तो पहले भी था पर इसे पूरा कर सकने का सहज सरल मार्ग इस विधि ने प्रशस्त किया। प्रज्ञा के बारे में बहुत पढ़ा था, बहुत चिंतन-मनन भी किया था परंतु इससे जो लाभ मिलना चाहिए, उससे वंचित था। प्रज्ञा का सही अर्थ ही नहीं समझ पाया था तो लाभ मिलता भी कैसे? अब तक तो परोक्ष ज्ञान को ही प्रज्ञा समझ रहा था। सुना-सुनाया, पढ़ा-पढ़ाया ज्ञान वस्तुतः श्रुत-ज्ञान होता है, जिसे श्रद्धा द्वारा स्वीकार किया जा सकता है। चिंतन-मनन करके उसे युक्ति-युक्त मान लें तो वही चिंतन-ज्ञान हो जाता है। पर ये दोनों ही परोक्ष ज्ञान हैं, पराये ज्ञान हैं।

स्वानुभूति के स्तर पर प्रत्यक्ष ज्ञान हो तो ही प्रज्ञान है। यही प्रज्ञा है। विपश्यना द्वारा इसी प्रत्यक्ष ज्ञान का अभ्यास किया। इस अभ्यास की निरंतरता कैसे बनाये रखें, यह भी सीखा। इस निरंतरता में पुष्ट होना ही प्रज्ञा में स्थित होना है, यह भी खूब समझ में आया। तब ऐसे लगा कि जिस स्थितप्रज्ञता को अपने जीवन का आदर्श मान रखा था, वह तो केवल एक सैद्धांतिक बात थी। बहुत हुआ तो उस पर चिंतन-मनन कर लिया। परंतु वह भी मात्र बौद्धिक प्रक्रिया ही हुई। विपश्यना ने प्रज्ञा के व्यावहारिक पक्ष का प्रयोगात्मक मार्ग प्रशस्त किया। प्रज्ञा के बल पर वीतराग, वीतद्वेष, वीतमोह, वीतभय होने के व्यावहारिक पक्ष का प्रयोगात्मक मार्ग प्रशस्त किया। विपश्यना कोरा उपदेश नहीं है, कोरा चिंतन-मनन नहीं है, बल्कि मनोविकारों को जड़ से उखाड़ देने की व्यावहारिक प्रक्रिया है, इसका स्पष्ट अनुभव हुआ।

पहले ही शिविर में शील, समाधि और प्रज्ञा के विशुद्ध सुधारस का जो यत्किंचित स्वाद चखा और उससे जो आंतरिक प्रश्रब्धि और प्रशांति की अनुभूति हुई उससे मन में एक धर्म-संवेग जागा कि चित्त विशुद्धि की इस कल्याणी साधना के अभ्यास को पुष्ट करते हुए, इसके सैद्धांतिक पक्ष से भी अवगत होना चाहिए। अतः बुद्ध-वाणी पढ़ने का निश्चय किया। परंतु वह लगभग पंद्रह हजार पृष्ठों के विशाल साहित्य में निहित थी, सो भी पालिभाषा में, जिसका मुझे रंचमात्र भी ज्ञान नहीं था। सौभाग्य से महापंडित राहुल सांकृत्यायनजी, भिक्षु आनंद कौसल्यायनजी, भिक्षु जगदीश काश्यपजी, भिक्षु धर्मरत्नजी तथा भिक्षु धर्मरक्षितजी ने बुद्ध-वाणी के कुछ ग्रंथों के हिंदी अनुवाद कर दिये थे। उन्हें भारत से मँगा कर पढ़ना आरंभ किया। पढ़ते हुए बड़ा आह्लाद होता था, विपश्यना साधना को बड़ा बल मिलता था।

सन १९६२ से ६४ के बीच एक और महान पुण्य का फलोदय हुआ जिसके कारण व्यवसाय और उद्योग के संचालन-संबंधी उत्तरदायित्व से सर्वथा मुक्ति मिली। अब जीवन में अवकाश ही अवकाश था। सन् १९६९ तक बुद्ध-वाणी के हिंदी अनुवाद को ही नहीं, बल्कि मूल पालि के भी कुछ

सुत्तों को पढ़ सकने का अवसर प्राप्त हुआ। मूल पालि में इन सुत्तों को पढ़ते समय अत्यंत प्रीति-प्रमोद जागता था; तन-मन पुलक-रोमांच से भर उठता था। सामान्यतया पालिभाषा बहुत सरल लगी, प्रिय लगी और प्रेरणा-प्रदायक भी। उन सुत्तों की परम पूज्य गुरुदेव द्वारा की गयी व्याख्या का मन पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा और उस व्याख्या के आधार पर विपश्यना साधना का अभ्यास करते हुए जो अनुभव हुआ, वह अद्भुत था, अपूर्व था। परियत्ति याने बुद्ध-वाणी, और प्रतिपत्ति याने उसके सक्रिय अभ्यास, के पावन संगम के कारण धर्म का शुद्ध स्वरूप अधिक उजागर होता गया। इस अमृत सागर में गोते लगाते हुए देखा कि विपश्यना का पथ अत्यंत शुद्ध है, पवित्र है, सुख-शांति प्रदायक है; जात-पांत के भेदभाव से, सांप्रदायिक बाड़ेबंदी से, उलझाने वाली दार्शनिक मान्यताओं से और थोथे कर्मकांडों से सर्वथा मुक्त है। इस पथ पर उठाया गया हर कदम हर किसी व्यक्ति के लिए यहीं इसी जीवन में विकार-विमुक्ति के सुखद परिणाम देने वाला है।

मुझे लगा कि कल्याणी बुद्ध-वाणी और भगवती विपश्यना को खोकर हमारे देश ने अपनी एक अत्यंत गौरव, गरिमामय पुरातन अध्यात्म-विद्या खो दी। शुद्ध सनातन आर्य-धर्म खो दिया। भारत के उन ऐतिहासिक महापुरुष को खो दिया जो नितांत निश्छल थे, निष्कपट थे, निष्प्रपंच थे, निष्कलुष थे; जो अनंत मैत्री और करुणा के साक्षात अवतार थे। एक ऐसे महामानव को खो दिया जो केवल भारत में ही नहीं बल्कि सकल विश्व में अनुपम थे, अनुत्तर थे, अप्रतिम थे, अद्वितीय थे, असदृश थे; जिनकी पावन शिक्षा के कारण भारत वस्तुतः विश्व-गुरु बना; भारत की भूमि विश्व के करोड़ों लोगों के लिए पूजनीय तीर्थभूमि बनी। उन भगवान गौतम बुद्ध को और उनकी कल्याणी वाणी तथा दुःख-विमोचनी विपश्यना विद्या को पुनः प्रकाश में लाना हमारे लिए सर्वथा लाभप्रद ही लाभप्रद है।

लगभग २००० वर्षों के लंबे अंतराल के बाद सौभाग्य से सन् १९६९ में विपश्यना का भारत में पुनरागमन हुआ है। भारत के प्रबुद्ध लोगों ने इसे सहर्ष स्वीकार किया है। साधकों की संख्या दिनोंदिन बढ़ती जा रही है।

देखता हूं कि विपश्यना शिविरों में सम्मिलित होने वाले अनेक साधक भगवान बुद्ध के मूल उपदेशों से अवगत होना चाहते हैं। मैं उनकी इस धर्म जिज्ञासा को खूब समझ सकता हूं, क्योंकि मैं स्वयं इस अवस्था में से गुजरा हूं। यह भी समझता हूं कि आज के भारत में पालिभाषा में बुद्ध-वाणी उपलब्ध नहीं है। नव नालंदा महाविहार ने लगभग पैंतीस वर्ष पूर्व जो प्रकाशन किया था, वह अब सर्वथा अनुपलब्ध है। परंतु यह प्रसन्नता की बात है कि विपश्यना विशोधन विन्यास ने न केवल बुद्ध-वाणी बल्कि उसकी अट्ठकथाओं, टीकाओं और अनुटीकाओं के संपूर्ण पालि साहित्य के प्रकाशन का बीड़ा उठाया है। लेकिन सभी साधक तो पालि पढ़ नहीं पायेंगे। हिंदी भाषी साधकों के लिए हिंदी अनुवाद आवश्यक है। जो अनुवाद पहले हुए थे, दुर्भाग्य से उनमें से भी अधिकांश अब उपलब्ध नहीं हैं। विपश्यना विशोधन विन्यास की एक योजना पुरातन पालि साहित्य के हिंदी अनुवाद करने की भी है, परंतु उसमें बहुत समय लगेगा।

अतः अपनी सामर्थ्य-सीमा को जानते हुए भी तिपिटक की एक बृहद भूमिका लिखने का साहस किया जिससे साधकों को हिंदी भाषा में भगवान बुद्ध और उनकी शिक्षा के बारे में अधिक से अधिक और सही-सही जानकारी मिल सके। पालि तिपिटक में से कुछ उद्धरणों और प्रेरक प्रसंगों को एकत्र करने लगा। जानता हूं कि आज के अधिकांश साधकों की वही अवस्था है जो १९५५ में मेरी थी। भगवान बुद्ध और उनकी पावन शिक्षा के बारे में उनका ज्ञान अत्यल्प है और भ्रामक भी। उन भ्रांतियों को दूर करने के लिए मूल पालि में सुरक्षित बुद्ध-वाणी का ही आश्रय लेना आवश्यक है। पालि भाषा ही हमें भगवान बुद्ध के अत्यंत समीप पहुँचाती है, क्योंकि यही उनकी मातृभाषा कोशली थी जो कि तत्कालीन विस्तृत और शक्तिशाली कोशलदेश की जनभाषा होने के कारण उस सारे मध्यदेश में बोली और समझी जाती थी जो कि भगवान बुद्ध की चारिका भूमि रही। कालांतर में इसे सम्राट अशोक ने अपने प्रशासन और धर्मलेखों के लिए अपना लिया और क्योंकि उसकी राजधानी पाटलिपुत्र मगध में थी और कोशलप्रदेश भी मगध साम्राज्य में समा गया था, अतः यही कोशली भाषा

मागधी कहलायी जाने लगी। इसने भगवान बुद्ध की वाणी को पाल-सँभाल कर रखा, इसलिए पालि कहलायी।

इसमें सुरक्षित भगवद्-वाणी में सर्वत्र भगवान बुद्ध का कल्याणकारी धर्मकायिक व्यक्तित्व समाया हुआ है, उनके द्वारा प्रवाहित धर्म की अमृत-वाणी का कलकल निनाद समाया हुआ है, उनकी वाणी से प्रभावित होकर और उनके बताये मार्ग पर चल कर निहाल हुए गृह-त्यागियों और गृहस्थों के आदर्श जीवन का भव्य दर्शन समाया हुआ है जो कि साधकों के लिए प्रभूत प्रेरणा-प्रदायक है।

तिपिटक में उनसे संबंधित प्रेरक सामग्री इतनी अधिक मात्रा में है कि कोई कितना भी चयन करे, तृप्ति हो ही नहीं पाती, वैसे ही जैसे कि भगवान बुद्ध के जीवनकाल में उनके गृहस्थ शिष्य हत्थक आलवक ने कहा कि–

"भगवान, मैं आपका दर्शन करते-करते अतृप्त ही रहा।"

"भगवान, मैं आपकी वाणी सुनते-सुनते अतृप्त ही रहा।"

तिपिटक भिन्न-भिन्न प्रकार के सुंदर और सुरभित पुष्पों का एक वृहद मनोरम उद्यान है। मैंने उनमें से थोड़े फूल चुन कर उन्हें माला में गूंथने का प्रयत्न किया है। कहीं-कहीं अर्थकथाओं में से बुद्धपुत्रों की वाणी के भी इक्के-दुक्के नयनाभिराम सुमन लेकर गूंथ लिए हैं। यह सब वैसे ही हुआ जैसे कि भगवान बुद्ध के गुणों का गान करते हुए भावविभोर गृहपति उपालि ने कहा था–

सेय्यथापि, भन्ते, नानापुप्फानं महापुप्फरासि

– जैसे कि, भंते, नाना प्रकार के पुष्पों की एक महान पुष्प-राशि हो,

तमेनं दक्खो मालाकारो वा मालाकारन्तेवासी वा

– जिसे लेकर कोई दक्ष माली अथवा उस माली का अंतेवासी शिष्य,

विचित्तं मालं गन्थेय्य – सुदर्शनी माला गूंथे।

एवमेव खो, भन्ते, सो भगवा अनेकवण्णो, अनेकसतवण्णो

– इसी प्रकार, भंते, वे भगवान अनेक प्रशंसनीय गुणवाले हैं, अनेक सौ प्रशंसनीय गुण वाले हैं।

को हि, भन्ते, वण्णारहस्स वण्णं न करिस्सति?

(म० नि० २.७७, उपालिसुत्त)

– भंते, प्रशंसनीय की प्रशंसा कौन नहीं करेगा? गुणवंतों के गुण कौन नहीं गायेगा?

उन्हीं गुणवंत भगवान के, उनके सिखाये धर्म के, उस धर्म को धारण कर निर्मल-चित्त हुए संतों के गुण गाने की चाह मेरे भीतर भी जागनी स्वाभाविक थी।

इसी भाव में बुद्ध-वाणी के कुछ एक सुंदर सुरभित सुमनों को चुन-चुन कर यह माला गूंथी गयी है; सद्धर्म के अगाध रत्नाकर से कुछ एक अनमोल रत्न चुन-चुन कर यह रत्न-खचित आभूषण गढ़ा गया है; सद्धर्म के असीम सुधा-सागर में से अमृत की कुछ एक बूंदें लेकर धर्म-सुधा-रस की यह गगरी भरी गयी है।

यह सुंदर सुरभित सुमनों की माला, यह महार्घ रत्नजड़ित स्वर्णाभूषण, यह शांतिप्रदायिनी सुधारस-गगरी, विपश्यी साधकों को तथा अन्यान्य शांतिप्रेमी पाठकों को धर्मपथ पर आरूढ़ होने और उत्तरोत्तर आगे बढ़ते रहने के लिए–

प्रभूत प्रेरणा का कारण बने!
उनके अपरिमित हित-सुख का कारण बने!
उनके असीम मंगल-कल्याण का कारण बने!
उनकी स्वस्ति-मुक्ति का कारण बने!
यही कल्याण कामना है।

कल्याणमित्र,
बुद्ध जयंती, १९९५ सत्यनारायण गोयन्का

संकेत-सूची

अ० नि० = अङ्गुत्तरनिकाय
अट्ठ० = अट्ठकथा
अप० = अपदान
इतिवु० = इतिवुत्तक
उदा० = उदान
कथा० = कथावत्थु
खु० नि० = खुद्दकनिकाय
खु० पा० = खुद्दकपाठ
चरिया० = चरियापिटक
चूळनि० = चूळनिद्देस
चूळव० = चूळवग्ग
जा० = जातक
थेरगा० = थेरगाथा
थेरीगा० = थेरीगाथा
दी० नि० = दीघनिकाय
ध० प० = धम्मपद
ध० स० = धम्मसङ्गणि
धातु० = धातुकथा
नेत्ति० = नेत्तिप्पकरण
पटि० म० = पटिसम्भिदामग्ग
पट्ठा० = पट्ठान
परि० = परिवार
पाचि० = पाचित्तिय
परा० = पाराजिक
पु० प० = पुग्गलपञ्ञत्ति
पे० व० = पेतवत्थु
पेटको० = पेटकोपदेस
बु० वं० = बुद्धवंस
म० नि० = मज्झिमनिकाय
महाव० = महावग्ग
महानि० = महानिद्देस
मि० प० = मिलिन्दपञ्ह
यम० = यमक
वि० व० = विमानवत्थु
विभ० = विभङ्ग
विसुद्धि० = विसुद्धिमग्ग
सं० नि० = संयुत्तनिकाय
सु० नि० = सुत्तनिपात

समस्त संदर्भ विपश्यना विशोधन विन्यास संस्करण के दिये जा रहे हैं। संदर्भ में सर्वप्रथम ग्रंथ का संक्षिप्त नाम यथा दीघनिकाय के लिये दी० नि०, भाग, उसके बाद अनुच्छेद संख्या दी गयी है। जहां अनुच्छेद संख्या निरंतर नहीं है वहां शीर्षक-उपशीर्षक या उनकी संख्या इत्यादि अनुच्छेद संख्या से पहले दिये गये हैं। जैसे कि संयुत्तनिकाय के लिये – पहले ग्रंथ का नाम, भाग, वग्ग की संख्या या शीर्षक तथा अनुच्छेद संख्या। इसी प्रकार अङ्गुत्तरनिकाय के लिये ग्रंथ का नाम, भाग, निपात तथा अनुच्छेद संख्या दी गयी है। जहां प्रमुख रूप से गाथाएं हैं, जैसे कि धम्मपद इत्यादि में, वहां अनुच्छेद संख्या की जगह गाथा संख्या दी गयी है।

इतिपि सो भगवा सम्मासम्बुद्धो

वे भगवान सम्यक संबुद्ध भी हैं।

किस माने में सम्यक संबुद्ध हैं? इसे समझें।

– "आयुष्मान गौतम, जब तुम उस दुष्कर तपश्चर्या द्वारा उत्तम आर्यदर्शन यानी परममुक्त अवस्था को नहीं प्राप्त कर सके, तो अब पथ-भ्रांत होकर, भोग-बहुलता का जीवन जीते हुए उसे कैसे प्राप्त कर पाये हो?"

पंचवर्गीय भिक्षुओं द्वारा इस प्रकार संदेह प्रकट किये जाने पर भगवान ने कहा –

न, भिक्खवे, तथागतो बाहुल्लिको, न पधानविब्भन्तो, न आवत्तो बाहुल्लाय।

– भिक्षुओ, तथागत न जोड़ने-बटोरने में लगे हैं, न साधना-भ्रष्ट हैं, न भोग-बहुलता में पड़ गये हैं।

अरहं, भिक्खवे, तथागतो सम्मासम्बुद्धो। (महाव० १२, पञ्चवग्गियकथा)

– भिक्षुओ, तथागत अरहंत हैं, सम्यक संबुद्ध हैं।

इसके पूर्व उरुवेल के बोधिमंड से ऋषिपत्तन मृगदाय आते हुए राह में मिले परिव्राजक उपक के द्वारा पूछे जाने पर कि उनका आचार्य कौन है तथागत ने यही घोषणा की थी –

अहं हि अरहा लोके, अहं सत्था अनुत्तरो।
एकोम्हि सम्मासम्बुद्धो, सीतिभूतोस्मि निब्बुतो॥

– मैं विश्व में अरहंत हूं, सर्वोत्तम शास्ता हूं। मैं शीतलता और निर्वाण प्राप्त किया हुआ सम्यक संबुद्ध हूं।

न मे आचरियो अत्थि – मेरा कोई आचार्य नहीं है।

सब्बञ्जहो तण्हाक्खये विमुत्तो, सयं अभिञ्ञाय कमुद्दिसेय्यं।

(महाव० ११, पञ्चवग्गियकथा)

– मैं सर्वस्व त्यागी, तृष्णा-क्षय, विमुक्त हूं। स्वयं अनुभूत अभिज्ञान को किससे प्राप्त हुआ बताऊं?

सचमुच संबुद्ध वही होते हैं, जिनका कोई आचार्य नहीं होता। जो स्वयंभू यानी अपने अभिज्ञान से स्वयं बुद्ध हुए हैं, वे संबुद्ध हैं। यानी जो सत्य है, सही है, उसे स्वयं अपनी अपरोक्ष अनुभूति द्वारा भली-भांति जान लेते हैं, वे सम्यक संबुद्ध हैं। ऐसे महापुरुष स्वयं अपनी अनुभूति द्वारा जाना हुआ सद्ज्ञान ही लोगों को बांटते हैं।

उन्होंने कहा –

तं खो पनाहं, भिक्खवे, नाञ्ञस्स समणस्स वा ब्राह्मणस्स वा सुत्वा वदामि; अपि च, भिक्खवे, यदेव मे सामं ञातं सामं दिट्ठं सामं विदितं, तमेवाहं वदामि।

(इतिवु० ८१, सक्कारसुत्त)

– भिक्षुओ, इसे मैं किसी अन्य श्रमण या ब्राह्मण से सुन कर नहीं कहता। भिक्षुओ, जिसे मैंने स्वयं जाना है, स्वयं देखा है, स्वयं विदित किया है, उसे ही कहता हूं।

इसीलिए वे लोगों को पहले जान और देख लेने वाली प्रारंभिक विपश्यना साधना सिखाते थे, तदनंतर ही मुक्त होने की अंतिम विद्या सिखाते थे। तभी उन्होंने कहा –

जानतो अहं, भिक्खवे, पस्सतो आसवानं खयं वदामि, नो अजानतो नो अपस्सतो।

(सं० नि० १.२.२३, उपनिससुत्त)

– भिक्षुओ, मैं जानने और देखने वालों को ही आस्रवों का क्षय होना बताता हूं; बिना जानने, बिना देखने वालों को नहीं।

इसी कारण वे औरों को भी स्वयं जानने और देखने की ही विद्या सिखाते रहे।

... सुखं वा, दुक्खं वा, अदुक्खमसुखं वा, तम्पि अनिच्चतो जानतो पस्सतो भिक्खुनो अविज्जा पहीयति, विज्जा उप्पज्जति।

(सं० नि० २.४.७९, पठमअविज्जापहानसुत्त)

– (छहों इंद्रियों के क्षेत्र में) जो सुख, दुःख अथवा असुख-अदुःख अनुभव होते हैं, वे सभी अनित्य हैं। इन्हें जानते, देखते अविद्या नष्ट होती है; विद्या उपजती है।

यहां देखने का अर्थ आंखों से रंग, रूप, रोशनी आदि देखना नहीं है। यहां देखने का अर्थ अपरोक्ष अनुभूति है यानी स्वयं अनुभव करना है। आज की हिंदी भाषा में भी इस शब्द का उस पुराने अर्थ में कभी-कभी प्रयोग होता रहता है। जैसे कोई कहे – "यह रसगुल्ला मीठा है, तू खाकर तो देख"। यहां रसगुल्ला खा कर उसका रंग-रूप देखने का अभिप्राय कदापि नहीं है, बल्कि स्वयं चख कर उसके मीठे स्वाद का अनुभव करने का ही अभिप्राय है।

बुद्ध-वाणी में हम **'जान'**, **'पस्स'** इन दो शब्दों का स्थान स्थान पर बार-बार प्रयोग हुआ पाते हैं। इसे सर्वत्र "स्वयं अनुभूति करके जान" इस सही अर्थ में ही समझना चाहिए। अब भी और इसी प्रकार तब भी सुनी-सुनायी सच्चाई को श्रद्धा के बल पर अथवा बहुत हुआ तो तर्क-बुद्धि के बल पर स्वीकार कर लेने की लोगों की आदत थी। उनकी क्षमता भी इतनी ही थी। भगवान ने सत्य को प्रत्यक्ष स्वानुभूति से जाना और इससे अपने आस्रवों का क्षय होते देखा; अपनी अविद्या को दूर होते देखा; अपनी विद्या को प्रकट होते देखा; अपने बंधन को टूटते देखा और अपनी मुक्ति को प्रकट होते देखा। आस्रवक्षय की इस अवस्था को स्वयं देख कर यानी अपनी अनुभूति पर उतार कर बोधिसत्त्व सिद्धार्थ गौतम मुक्त हुए, अरहंत हुए।

परंतु इससे भी बड़ी बात यह हुई कि वे स्वयं बुद्ध हुए यानी संबुद्ध हुए। साधारण अरहंत भी सच्चाई को प्रत्यक्ष जान कर ही मुक्त अवस्था तक पहुँच पाते हैं। बिना विपश्यना ज्ञान के, बिना सत्य को स्वयं देखे जाने कोई मुक्त नहीं होता। परंतु कोई व्यक्ति किसी के द्वारा बताये जाने पर अथवा कहीं पढ़-सुन लेने पर सच्चाई को स्वयं देखते-जानते हुए मुक्त होने का काम पूरा कर सकता है, जबकि सम्यक संबुद्ध को कोई मार्ग बताने वाला नहीं होता। वे लोक में खोया हुआ मुक्ति का मार्ग स्वयं खोजते हैं;

इसलिए **मग्ग-गवेसी** कहलाते हैं। स्वयं खोजे हुए मार्ग को अच्छी प्रकार जान लेते हैं; अतः **मग्गञ्ञू** कहलाते हैं। जान कर उस मार्ग पर स्वयं चलते हैं और मुक्त हो जाते हैं; इसीलिए **मग्गकोविद** कहलाते हैं। करुण चित्त से वही मार्ग लोगों को आख्यात करते हैं; अतः **मग्गक्खायी** कहलाते हैं। इसीलिए कहा गया –

तथागतो, भिक्खवे, अरहं सम्मासम्बुद्धो अनुप्पन्नस्स मग्गस्स उप्पादेता, असञ्जातस्स मग्गस्स सञ्जनेता, अनक्खातस्स मग्गस्स अक्खाता मग्गञ्ञू, मग्गविदू, मग्गकोविदो...।

– भिक्षुओ, तथागत अरहंत सम्यक संबुद्ध अनुत्पन्न मार्ग को उत्पन्न करने वाले होते हैं; अनजाने मार्ग को जनाने वाले होते हैं; अनाख्यात मार्ग को आख्यात करने वाले होते हैं; मार्गज्ञाता होते हैं, मार्गविद् होते हैं, मार्गकोविद... होते हैं।

...मग्गानुगा च, भिक्खवे, एतरहि सावका विहरन्ति पच्छासमन्नागता।

– ...भिक्षुओ, जो अब के श्रावक हैं, वे उनके पीछे-पीछे मार्ग का अनुगमन करने वाले हैं।

श्रावक उनको कहते हैं, जो भगवान से धर्म का उपदेश श्रवण कर उस पर चलते हैं।

अयं खो, भिक्खवे, विसेसो, अयं अधिप्पयासो, इदं नानाकरणं तथागतस्स अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स पञ्ञाविमुत्तेन भिक्खुनाति।

(सं० नि० २.३.५८, सम्मासम्बुद्धसुत्त)

– भिक्षुओ, किसी प्रज्ञा-विमुक्त भिक्षु की तुलना में तथागत अरहंत सम्यक संबुद्ध की यही विशेषता है, यही अधिकता है, यही विभिन्नता है।

किसी बुद्ध से सीख कर अपनी प्रज्ञा जगाने वाला व्यक्ति जब उस प्रज्ञा के बल पर भवबंधन से विमुक्त होता है, तब उसकी और सम्यक संबुद्ध की मुक्ति में कोई अंतर नहीं होता। दोनों ही अरहंत होते हैं। यह उनका आखिरी जन्म होता है और इस जीवन की मृत्यु उनकी आखिरी मृत्यु होती है, परंतु सम्यक संबुद्ध को कोई अन्य व्यक्ति या कोई ग्रंथ मुक्ति

का मार्ग नहीं दिखाता। मुक्ति का मार्ग उस समय सर्वथा लुप्त हो चुका होता है। सम्यक संबुद्ध उसको स्वयं खोज निकालते हैं। यही उनकी विशेषता है।

प्रत्येक बुद्ध

जो प्रत्येक बुद्ध होते हैं वे भी किसी से सुन कर नहीं, बल्कि स्वयं अपने परिश्रम द्वारा उस समय विलुप्त हुए मुक्ति के मार्ग को खोज कर भवमुक्त होते हैं। परंतु वे सम्यक संबुद्ध नहीं कहलाते। स्वयं बुद्ध माने संबुद्ध होते हुए भी उनमें कुछ कमी रह जाती है। वे अनेक जन्मों में केवल अपनी मुक्ति के लिए प्रयत्नशील होते हैं। अन्य प्राणियों के लिए वे प्रबल-प्रयास नहीं करते। इसलिए मार्ग खोज कर स्वयं तो मुक्त हो जाते हैं, संबुद्ध हो जाते हैं परंतु औरों को मुक्ति का मार्ग आख्यात नहीं कर सकते। इसीलिए प्रत्येक बुद्ध यानी एकाकी बुद्ध कहलाते हैं।

प्रत्येक बुद्ध की अपेक्षा एक सम्यक संबुद्ध की संबोधि सम्यककरुपेन परिपूर्ण होती है। वे अनगिनत जन्मों में अपनी मुक्ति के साथ-साथ औरों को भी धर्मपथ पर चलने की प्रेरणा देते हैं। अतः सम्यक संबोधि प्राप्त होने पर वे अकेले ही मुक्त नहीं होते, बल्कि अनेकों की मुक्ति में सहायक होते हैं। यह उनकी महत्त्वपूर्ण विशेषता होती है, जिसके कारण वे प्रत्येक बुद्ध न कहला कर सम्यक संबुद्ध कहलाते हैं।

तापस सुमेध

सम्यक संबुद्ध बनने के लिए तापस सुमेध को बहुत बड़ा त्याग और कष्ट उठाना पड़ा। असंख्य कल्पों पूर्व इस समय का अंतिम जीवन जीने वाले सिद्धार्थ गौतम उस समय के ब्राह्मण सुमेध तापस थे और उस समय के सम्यक संबुद्ध भगवान दीपंकर के संपर्क में आये थे। उस समय उनके पास जितनी भी पूर्व पारमिताओं का संग्रह था, उससे वे भगवान दीपंकर द्वारा विपश्यना सीख कर तत्काल प्रज्ञा-विमुक्त अरहंत हो सकते थे और सदा के लिए भव-बंधन से विमुक्त हो सकते थे। परंतु उनके मन में करुणा का ऐसा संवेग जागा कि मेरी अकेले की विमुक्ति से कहीं अच्छी बात यह

होगी कि भगवान दीपंकर की भांति मैं भी सम्यक संबुद्ध बनूं और अनेकों की मुक्ति में सहायक होऊं। सचमुच कोई सम्यक संबुद्ध होता है, तो सभी प्राणियों के भले के लिए ही होता है– **बुद्धो लोके समुप्पन्नो, हिताय सब्बपाणिनं।**

सामान्य अरहंत अवस्था प्राप्त करने के लिए दस पारमी (पारमिताएं) पूरी करनी आवश्यक होती हैं। पारमी यानी पारमिता कहते हैं उन सद्गुणों की परिपूर्णता को जो किसी को इस पार के भव-संसार से उस पार के निर्वाण तक पहुँचने में सहायक होती हैं।

दस पारमिताएं ये हैं–

१. दान, २. शील, ३. निष्क्रमण, ४. प्रज्ञा, ५. वीर्य, ६. क्षांति, ७. सत्य, ८. अधिष्ठान, ९. मैत्री और १०. उपेक्षा।

सम्यक संबुद्ध बनने के लिए इन्हीं पारमिताओं को अपेक्षाकृत अधिक परिमाण में तथा अधिक सघनता के साथ परिपूर्ण करना होता है। इन दस पारमिताओं को पूर्ण करने के लिए जब अपनी समस्त सांसारिक धन-संपदा, वैभव-ऐश्वर्य, प्रभुत्व-सत्ता ही नहीं, बल्कि अपने शरीर के किन्हीं-किन्हीं अंगों का भी परित्याग किया जाता है, तो ये दस उपपारमिताएं कहलाती हैं।

यदि इन्हें पूर्ण करने के लिए अपने जीवन का भी परित्याग किया जाता है तो ये दस परमत्थ (परमार्थ) पारमिताएं कहलाती हैं।

सम्यक संबुद्ध बनने के लिए यों तीस पारमिताएं पूरी करनी होती हैं।

इसके लिए बोधिसत्त्व को असंख्य कल्पों के अगणित जन्मों में भव-भ्रमण करना होता है। तपस्वी सुमेध इसके लिए तत्पर हुए। उन्होंने सोचा कि मैं अनेक जन्मों में बोधिसत्त्व के रूप में तीसों पारमिताओं को पूरा करते हुए हर जीवन में स्वयं तो धर्म पालन कर अपना कल्याण साधूंगा ही, साथ-साथ अन्य अनेक व्यक्तियों को सन्मार्ग पर लगा कर उनके कल्याण का भी कारण बनूंगा। अहो, इस बोधिसत्त्वचर्या में तो आत्महित के साथ-साथ परहित समाया हुआ है, सर्वहित समाया हुआ है। इस असीम मैत्री-चित्त के

कारण उन्होंने एक ओर तत्काल मुक्त हो सकने के लिए उपलब्ध अवसर को त्यागा, दूसरी ओर सामान्य दस की जगह विशिष्ट तीस पारमिताओं को कहीं अधिक परिमाण में अर्जित करने के लिए लंबे समय तक भव-भ्रमण करते रहने का कष्ट उठाना स्वीकार किया। ब्राह्मण तापस सुमेध भगवान दीपंकर से आशीर्वाद प्राप्त कर, सम्यक संबोधि को लक्ष्य बना कर लोक हित करते हुए भव-संसरण में लग गये। वही बोधिसत्त्व अपनी सभी पारमिताएं परिपूर्ण कर सिद्धार्थ गौतम के नाम से जन्मे और इस अंतिम जीवन में उन्होंने सम्यक संबोधि प्राप्त की।

राह चलते परिव्राजक उपक के समक्ष उन्होंने इसी उपलब्धि की घोषणा की। यही घोषणा उन्होंने अपने छः वर्षों के संगी-साथी पंचवर्गीय भिक्षुओं के समक्ष ऋषिपत्तन मृगदाय में की और कहा– **अरहं, भिक्खवे, तथागतो सम्मासम्बुद्धो।**

कैसे प्राप्त हुई यह सम्यक संबोधि?

आचार्य आलारकालाम से सातवां और उद्दक रामपुत्र से आठवां ध्यान सीख कर जब केवल समाधि ही पुष्ट हुई, प्रज्ञा-विमुक्ति नहीं प्राप्त हुई, सम्यक संबोधि नहीं उपलब्ध हुई, तो उन्होंने लगभग छः वर्षों तक उन दिनों की बहुप्रचलित काय-दंडन की दुष्करचर्या बड़ी कठोरता के साथ निभायी, परंतु वह नितांत निकम्मी और निरर्थक साबित हुई। अतः उसे त्याग दिया। यह देख कर उनके पांचों साथी बोधिसत्त्व को **पधानविब्भन्त** यानी तपभ्रष्ट मान छोड़ कर चले गये। तदनंतर युक्ताहार-विहार द्वारा आवश्यक शरीर-बल प्राप्त कर उन्होंने नयी राह खोज निकाली, जो परम फलप्रदायक हुई। इसी की ओर संकेत करते हुए उन्होंने धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया और पंचवर्गीय भिक्षुओं को समझाया –

द्वेमे, भिक्खवे, अन्ता पब्बजितेन न सेवितब्बा।

– भिक्षुओ, ये दो अंत हैं, जिनका सेवन किसी भी गृहत्यागी प्रव्रजित को नहीं करना चाहिए।

कतमे द्वे - कौन से दो?

एक तो -

यो चायं कामेसु कामसुखल्लिकानुयोगो हीनो गम्मो पोथुज्जनिको अनरियो अनत्थसंहितो।

- यह जो काम भोग में लीन रहना है, जो हीन है, गँवारू (ग्राम्य) है, पृथग्जन अर्थात अनार्यों द्वारा सेवित है, अनर्थकारी है।

और दूसरा -

यो चायं अत्तकिलमथानुयोगो दुक्खो अनरियो अनत्थसंहितो।

- यह जो आत्मप्रपीड़न का मार्ग है, जो दुःखदायी है, अनार्यों द्वारा सेवित है और अनर्थकारी है।

अतियों वाले इन दोनों अंतों को त्याग कर -

... मज्झिमा पटिपदा तथागतेन अभिसम्बुद्धा चक्खुकरणी ञाणकरणी उपसमाय अभिञ्ञाय सम्बोधाय निब्बानाय संवत्तति।

(सं० नि० ३.५.१०८१, धम्मचक्कप्पवत्तनसुत्त)

- यह जो मध्यमा प्रतिपदा है, जिसका कि तथागत ने अभिसंबोध किया, वह चक्षुकरणी है; ज्ञानकरणी है; उपशमन, अभिज्ञान, संबोधि और निर्वाण तक ले जाने वाली है।

संबोधि कैसे जागी?

ये जो चार आर्यअत्य हैं -

१- **इदं दुक्खं अरियसच्चं** - यह दुःख आर्यसत्य है।

२- **इदं दुक्खसमुदयं अरियसच्चं** - यह दुःख समुदय आर्यसत्य है।

३- **इदं दुक्खनिरोधं अरियसच्चं** - यह दुःख निरोध आर्यसत्य है।

४- **इदं दुक्खनिरोधगामिनी पटिपदा अरियसच्चं** - यह दुःख निरोधगामिनी प्रतिपदा आर्यसत्य है।

इन चार आर्यसत्यों की प्रज्ञापना ही अपने आपमें एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात थी। दुःख की सच्चाई, दुःख के सही कारण की सच्चाई, दुःख के निवारण की सच्चाई और दुःख निवारण के उपाय की सच्चाई; जीवन-जगत की इन चार महत्त्वपूर्ण सच्चाइयों को महत्त्व न देकर, धर्म के नाम पर चलने वाले सांप्रदायिक कर्मकांडों और दार्शनिक मान्यताओं के जंजाल में पड़ा हुआ व्यक्ति कितना उलझा रहता है! ये चार सत्य समझ में आ जायँ, तो काम की बात समझ में आ गयी; मानव-जीवन सार्थक कर लेने की बात समझ में आ गयी। जैसे मृत-मांस और चमड़ी, छिलके आदि का सारा मैल छील कर, खराद कर साफ किया गया शंख स्वच्छ हो जाता है, वैसे ही इन चार सच्चाइयों को अन्य निरर्थक कर्मकांडों और दार्शनिक जंजालों से दूर कर लेने पर इनकी स्वच्छता प्रकट होने लगती है। ये चार सच्चाइयां और इनकी यह निर्मल स्वच्छता इस प्रकार, इस रूप में, पहले कभी सुनी ही नहीं गयी थी; इन्हें समझ सकना तो दूर रहा। इसलिए कहा -

पुब्बे अननुस्सुतेसु - पहले कभी न सुनी गयी,

(महाव० १५, पञ्चवग्गियकथा)

इन चार सच्चाइयों के बारे में विवरण सहित सुन भी ले और उन्हें श्रद्धा के स्तर पर अथवा बुद्धि के स्तर पर स्वीकार भी कर ले, तो यह भी किसी एक संप्रदाय की दार्शनिक मान्यता ही बन कर रह जाती है। इन्हें मानने मात्र से कोई मुक्त नहीं होता; सम्यक संबोधि का जागना तो बहुत दूर की बात है।

तिपरिवट्टं द्वादसाकारं -

इन चारों में से एक-एक को तीन-तीन परिवर्त में यानी तिहरी आवृत्तियों में, यों बारह प्रकार से साध लेने पर ही कोई व्यक्ति सम्यक संबोधि प्राप्त करता है। आओ, एक दृष्टि डालें एक-एक आर्यसत्य के इन तिहरे परिवर्तों पर।

१. दुःख आर्यसत्य की तीन आवृत्तियां।

(क) दुःख की सच्चाई को स्वीकारना।

(ख) **परिञ्ञेय्यं** - बुद्धि द्वारा समझना कि यह सच्चाई परिज्ञेय है।

(ग) **परिञ्ञातं** - अनुभूति द्वारा जानना कि यह सच्चाई परिज्ञात हो गयी।

२. दुःख समुदय आर्यसत्य की तीन आवृत्तियां।

(क) तृष्णा ही दुःख का कारण है, इस सच्चाई को स्वीकारना।

(ख) **पहातब्बं**- बुद्धि द्वारा समझना कि तृष्णा का प्रहाण करना चाहिए।

(ग) **पहीनं** - अनुभूति द्वारा जानना कि तृष्णा का प्रहाण कर लिया।

३. दुःख निरोध आर्यसत्य की तीन आवृत्तियां।

(क) दुःख का नितांत निरोध हो सकता है, इस सच्चाई को स्वीकारना।

(ख) **सच्छिकातब्बं** - बुद्धि द्वारा समझना कि इस सच्चाई का साक्षात्कार करना चाहिए।

(ग) **सच्छिकतं**- अनुभूति द्वारा जानना कि निरोध अवस्था का साक्षात्कार कर लिया गया।

४. दुःख निरोधगामिनी प्रतिपदा आर्यसत्य की तीन आवृत्तियां।

(क) शील, समाधि और प्रज्ञा की आठ अंग वाली दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा है, इस सच्चाई को स्वीकार करना।

(ख) **भावेतब्बं** - इसे बुद्धि द्वारा समझना कि इस प्रतिपदा अर्थात मार्ग की भावना करनी चाहिए, यानी इसे बार-बार अनुभूति पर उतारना चाहिए।

(ग) **भावितं** - यानी अनुभूति द्वारा जानना कि इसे भावित कर लिया।

आओ, इन क्रान्तिकारी सच्चाइयों को जरा और विस्तार से समझें।

चारों आर्यसत्यों के प्रथम-प्रथम परिवर्त को श्रुत-ज्ञान, द्वितीय-द्वितीय को चिंतन-ज्ञान और तृतीय-तृतीय को प्रत्यक्ष-ज्ञान कहना उचित होगा।

पहले प्रथम आर्यसत्य की तीन आवृत्तियों को भली प्रकार समझ लेना आवश्यक है।

१- (क) प्रथम आर्यसत्य की पहली आवृत्ति है दुःख की सच्चाई को स्वीकारना। जरा, व्याधि और मरण के दुःख को स्वीकारना कठिन नहीं होता। इसी प्रकार अप्रियसंयोग और प्रियवियोग के दुःख को स्वीकारना भी सरल है। जिसकी कामना करें, उसके प्राप्त न होने का दुःख भी सरलता से स्वीकारा जा सकता है। परंतु मनुष्य लोक में किसी धनीमानी, समृद्धिशाली, शक्तिशाली परिवार में जन्म लेने का सुख अथवा देवलोकों तथा रूप-अरूप ब्रह्मलोकों में जन्म लेने का सुख भी वस्तुतः दुःख ही है - इसे स्वीकारना अनेक लोगों के लिए कठिन होता है। इन लौकिक सुखों को ही सुख मानने वालों के लिए यह सुख अनित्यधर्मा होने के कारण दुःखगर्भा ही है - यह स्वीकारना आसान नहीं होता। परंतु इन लौकिक सुखों को अनित्य मानते हुए भी उनमें रमण करने वाले लोगों से ज्यादा बड़ी कठिनाई उनकी है जो अपनी दार्शनिक मान्यताओं के चिपकाव के कारण नाम और रूप के पांचों स्कंधों में से किसी एक को नित्य, ध्रुव, कूटस्थ आत्मा मान कर उसे शाश्वत सुख का केंद्र माने हुए हैं, अथवा किसी देवलोक या ब्रह्मलोक को और वहां के निवासी देव-ब्रह्माओं को अमर माने हुए हैं, वे इनमें समाये हुए अनित्यधर्मा दुःख को कैसे स्वीकारें भला? अपनी सांप्रदायिक मान्यता में जकड़ा हुआ व्यक्ति जीवन भर प्रथम आर्यसत्य का विरोध यह कह कर करता रहेगा कि मानवी धन-संपदा ऐश्वर्य-वैभव के प्रत्यक्ष सुख को और शाश्वत दिव्य तथा ब्राह्मी आनंद को दुःख कहना घोर निराशावादी विचारधारा है। यह हमें मान्य नहीं है। वह कभी यह समझने की कोशिश नहीं करेगा कि इसी जीवन के नहीं बल्कि भवसंसार में बार-बार जन्मने और मरने के सभी दुःखों से मुक्ति दिलाने का मार्ग परम आशावादी मार्ग है। उसमें निराशा के लिए कोई स्थान ही नहीं है, परंतु दुर्भाग्यवश वह अपनी नासमझी में ही उलझा रहेगा।

ऐसी नासमझी और मिथ्या दृष्टियों से छुटकारा पाकर और धर्म-वाणी पर श्रद्धा जगा कर कोई यह स्वीकार कर भी ले कि उपादान यानी आसक्ति के कारणभूत इन रूप और नाम के यानी शरीर और चित्त के पंचस्कंधों की उत्पत्ति ही दु:ख है, चाहे वह किसी लोक में क्यों न हो, तो भी उसके लिए यह पहले आर्यसत्य का इकहरा रूप ही प्रकट हुआ। इसके द्वारा शंकाओं से भले मुक्ति मिल जाय, किंतु अंत:शायी यानी भीतर की गहराइयों में सोये हुए भव-संसरण के संस्कार नहीं मिट पाते। अत: दु:ख सत्य को मात्र श्रद्धा के स्तर पर स्वीकार कर लेने वाला व्यक्ति मुक्त नहीं हो पाता, बोधि प्राप्त नहीं कर पाता।

१- (ख) मुक्ति के लिए इस प्रथम आर्यसत्य की दूसरी आवृत्ति को समझना आवश्यक है कि दु:ख **परिञ्ञेय्यं** यानी परिज्ञेय है। यानी स्वानुभूति द्वारा दु:ख के क्षेत्र की संपूर्ण परिधि का परिपूर्ण ज्ञान उपलब्ध करना चाहिए। इसके बिना पंचस्कंध का सारा क्षेत्र दु:ख का ही क्षेत्र है – इसे जान नहीं पायेगा। बुद्धि द्वारा केवल मान कर ही रह जायेगा। परिणामत: मुक्ति से दूर रह जायेगा।

१- (ग) बोधि प्राप्त करने के लिए इस प्रथम आर्यसत्य की तीसरी आवृत्ति को अनुभूति द्वारा जानना आवश्यक है। उस अवस्था तक पहुँचना आवश्यक है, जहां पहुँच कर विश्वासपूर्वक कहा जा सके कि – **परिञ्ञातं** यानी परिज्ञात हो गया। दु:ख की अंतिम परिधि तक का परिपूर्ण ज्ञान अनुभूति के स्तर पर प्राप्त कर लिया।

इसके लिए नाम और रूप के अर्थात चित्त और शरीर के संपूर्ण उदय-व्ययधर्मा क्षेत्र का स्वयं अवगाहन करना होता है, अनुसंधान करना होता है। संपूर्ण क्षेत्र का परिपूर्ण अनुभव हुआ या नहीं, यह कैसे जाने? यह तभी जान पाता है, जबकि इस अनित्य क्षेत्र की परिधि का अतिक्रमण करके रूपातीत, नामातीत, इंद्रियातीत, अमृत निर्वाण का स्वयं साक्षात्कार कर लेता है। अन्यथा इस अनित्य-धर्मा ऐन्द्रिय क्षेत्र की किसी भी सुखद, सूक्ष्म अवस्था की अनुभूति हो जाने पर इस भ्रम में पड़ सकता है कि मैंने दु:ख आर्यसत्य का परिज्ञान पूरा कर लिया। मैंने सारे दु:खों के परे का सुख

अनुभव कर लिया। इस भ्रांति से बचने के लिए इंद्रियातीत **निब्बानं परमं सुखं** को स्वानुभूति पर उतारना आवश्यक है। इसके बिना दु:ख का परिज्ञान नहीं होता। पूर्ण परिज्ञात तक पहुँचने की सारी भूमियां अनुभूति पर उतार लेने पर ही प्रथम आर्यसत्य की तिहरी आवृत्ति यानी **तिपरिवट्टं** का सही ज्ञान होता है।

इसी प्रकार दूसरे आर्यसत्य यानी दु:ख समुदय की तीनों आवृत्तियों को भी भली प्रकार समझना आवश्यक है।

२- (क) पहली आवृत्ति में यह स्वीकारना होता है कि तृष्णा का उदय ही दु:ख का समुदय है। परंतु काम-भोग को सुखद मानने वाला व्यक्ति काम-भोग के प्रति उदय होने वाली तृष्णा को दु:ख-समुदय नहीं ही स्वीकारता। इसी प्रकार अनित्यधर्मा पांच स्कंधों में से किसी एक को अमर आत्मा मान लेने वाला व्यक्ति अथवा किसी भी लोक को और उस लोक के निवासियों को अमर मान लेने वाला व्यक्ति उस लोक में उत्पन्न होने की भव-तृष्णा को दु:ख-समुदय नहीं स्वीकारता। इसी प्रकार अपने दुष्कर्मों का दुष्फल भावी जन्मों में भोगना होगा, इससे घबराकर सभी भवों के नष्ट हो जाने की तृष्णा रखने वाला व्यक्ति इस विभव-तृष्णा को दु:ख-समुदय नहीं स्वीकारता। कोई व्यक्ति इन तीनों मिथ्या भ्रांतियों में से निकलता है और यह स्वीकार कर लेता है कि तृष्णा 'तृष्णा' है, चाहे काम-तृष्णा हो या भव-तृष्णा या विभव-तृष्णा। वह यहां वहां, जहां कहीं भी अभिनंदन करती हुई उत्पन्न होती है वहीं दु:ख-समुदय होता है। श्रद्धाजन्य श्रुतज्ञान द्वारा इस सच्चाई को स्वीकार कर लेने वाला व्यक्ति अन्य भ्रांत व्यक्तियों से अच्छा है। परंतु दूसरे आर्यसत्य की इस स्वीकृति मात्र से वह मुक्त नहीं होता।

२- (ख) वस्तुत: दु:ख-विमुक्त होने के लिए दूसरे आर्यसत्य की दूसरी आवृत्ति है **पहातब्बं** यानी उसका पूर्णतया प्रहाण करना चाहिए – इस तथ्य को बुद्धि के स्तर पर स्वीकारना आवश्यक है।

२- (ग) परंतु इस तथ्य को महज स्वीकार लेने मात्र से मुक्ति नहीं मिलती। वस्तुत: प्रहाण करके **पहीनं** की अवस्था यानी तीसरी आवृत्ति को पूरा कर लेना अनिवार्य है। दु:खद अनुभूति के प्रति द्वेष की तृष्णा से

छुटकारा पाना सरल हो, तो भी सुखद अनुभूति के प्रति राग की तृष्णा से मुक्त होना कठिन है। विपश्यना के गहरे अभ्यास द्वारा सामिष सुखद संवेदना से मुक्ति प्राप्त करने के बाद रूप-अरूप के सूक्ष्मतर सुख की तृष्णा भी छूटती है। अंततः निर्वाण के परम सुख के प्रति भी तृष्णा का नामोनिशान नहीं रहता, तभी तृष्णा का सचमुच क्षय होता है; तभी भवातीत निर्वाण का साक्षात्कार होता है; तभी दूसरे आर्यसत्य की **तिपरिवट्टं** यानी तीनों आवृत्तियों का सम्यक रूप से संबोध होता है।

इसी प्रकार तीसरे आर्यसत्य दुःखनिरोध की भी तीनों आवृत्तियों को भली प्रकार समझना आवश्यक है -

३- (क) जो व्यक्ति तृष्णा को दुःख का कारण ही नहीं स्वीकारता, वह तृष्णा के निवारण से दुःख-निवारण हो जाने की सच्चाई को कैसे स्वीकारेगा? वह अपनी दार्शनिक मान्यताओं के आधार पर किसी तारक ब्रह्म यानी तारक ईश्वर की कृपा से उसके लोक में जन्म लेने को मुक्ति समझता रहता है। शुद्ध धर्म की वाणी सुन कर कोई इस भ्रम के बाहर निकले और इस तथ्य को स्वीकार भी कर ले कि जिन कारणों से दुःख का समुदय होता है, उन कारणों को दूर करने पर ही दुःख-निरोध होगा, तो इस आर्यसत्य को उसने सही तो समझा, पर यह उसका इकहरा ज्ञान ही हुआ। तीसरे आर्यसत्य की प्रथम आवृत्ति ही हुई। मात्र इतने से वह दुःख-मुक्त नहीं होता। उसे इस सत्य की दूसरी आवृत्ति भी समझना आवश्यक है।

३- (ख) इस दुःखनिरोध आर्यसत्य का **सच्छिकातब्बं**- साक्षात्कार करना चाहिए, इसे समझना और स्वीकारना इस आर्यसत्य की दूसरी आवृत्ति है। परंतु इसे भी मात्र बुद्धि के स्तर पर स्वीकार कर लेने मात्र से कोई वस्तुतः दुःख-मुक्त नहीं होता।

३- (ग) इस दुःख-विमुक्ति के लिए आवश्यक है, तीसरी आवृत्ति - **सच्छिकतं** यानी साक्षात्कार कर लिया। इसकी स्वानुभूति अनिवार्य है। इस नित्य, शाश्वत, निर्वाणिक अवस्था के साक्षात्कार की जब पहली बार अनुभूति होती है, तब साधक वस्तुतः जान लेता है कि -

यं किञ्चि समुदयधम्मं सब्बं तं निरोधधम्मन्ति।

(महाव० १५.१६, पञ्चवग्गियकथा)

- जो कुछ उत्पन्न होने के स्वभाववाला है, वह निरुद्ध होने के स्वभाववाला भी है।

इस सच्चाई को अनुभव कर सकने के लिए विरज, विमल, धर्मचक्षु उत्पन्न होने आवश्यक हैं, यानी नाम-रूप प्रपंच के शुद्ध धर्म-स्वभाव को अनुभव कर सकने की क्षमता प्राप्त होनी आवश्यक है जो विपश्यना के अभ्यास द्वारा प्राप्त होती है। इस अभ्यास से नाम-रूप के उत्पाद और व्यय होने की सच्चाई अनुभव होती है। इसे तटस्थ भाव से देखते-देखते जब चार अपाय गतियों की ओर ले जाने वाले सारे भवदायी अनुशय संस्कार सर्वथा क्षीण हो जाते हैं, तब नाम-रूप के परे, यानी छहों इंद्रियों के परे नित्य, शाश्वत, ध्रुव, अमृत का पहला-पहला अनुभव होता है। यह अवस्था **सोतापन्न** की अवस्था कहलाती है, यानी साधक ने भविष्य में नितांत मुक्त हो जाने की क्षमता प्राप्त कर ली। वह मुक्ति के स्रोत में पड़ गया। इस अवस्था पर पहुँच कर वह अधोगतियों से तो मुक्त हो ही गया; आगे की मुक्ति के लिए भी प्रयत्नशील होने लगता है। ऐसा व्यक्ति अधिक से अधिक सात बार जन्म ले कर सारी गतियों से नितांत विमुक्त हो जाता है।

सारी भव गतियों से नितांत विमुक्त होने के लिए दस संयोजनों यानी बंधनों को नष्ट करना आवश्यक होता है। स्रोतापन्न की अवस्था प्राप्त होने पर तीन संयोजन स्वतः नष्ट हो जाते हैं। ये संयोजन हैं -

(१) सत्काय-दृष्टि अर्थात नाम और रूप से संबंधित किसी भी अवस्था को 'मैं', 'मेरा' अथवा "मेरी आत्मा" स्वीकार कर उसे नित्य, शाश्वत, ध्रुव मान लेने की आत्मदृष्टि, अहंदृष्टि।

(२) विचिकित्सा यानी मार्ग और मार्ग के फल के प्रति संशय-संदेह।

(३) शील-व्रत-परामर्श अर्थात किसी भी शील या व्रत को मुक्ति-प्रदायक मान कर उसे अतियों तक खींचना और उसके प्रति गहन आसक्ति जगा लेना।

स्रोतापन्न हुआ साधक जब विपश्यना के मार्ग पर आगे बढ़ता है, तब वह अन्य दो संयोजनों का सामना करता है –

(४) **काम-छंद** यानी प्रिय व्यक्ति, वस्तु, स्थिति आदि को प्राप्त करने की तीव्र कामना भरा राग। इसमें काम-वासना से संबंधित राग प्रमुख होता है।

(५) **प्रतिघ** यानी प्रतिघात – अप्रिय व्यक्ति, वस्तु, स्थिति आदि को दूर करने एवं दूर रखने के लिए प्रतिघात करना यानी उसके प्रति उत्पन्न हुआ तीव्र द्वेष।

तीव्र राग और तीव्र द्वेष की जड़ें भीतर तक बहुत गहरी समायी रहती हैं। इन्हें सहसा निकाल पाना सरल नहीं होता। स्रोतापन्न साधक विपश्यना का अभ्यास करते हुए नाम और रूप के अनित्य स्वभाव का गहराइयों से अनुभव करते-करते इन दोनों संयोजनों को दुर्बल बना कर जब इंद्रियातीत निर्वाण की अनुभूति करता है, तब वह **सकृदागामी** यानी एक बार जन्म लेने वाला बन जाता है। अभी काम-राग की जड़ें नहीं निकल पायी हैं, अतः ऐसा व्यक्ति मरने पर कामलोक में यानी मनुष्य या देवलोक में केवल एक बार जन्म लेता है।

सकृदागामी हुआ साधक विपश्यना के मार्ग पर प्रगति करते हुए अंततः इन दोनों संयोजनों की जड़ें उखाड़ लेता है। यों इन पांचों **ओरम्भागीय** यानी अधोभागीय संयोजनों से मुक्त होकर जब निर्वाणिक अनुभूति करता है, तो **अनागामी** अवस्था को प्राप्त कर लेता है। स्रोतापन्न होने पर चार अपाय गतियों से, यानी अधोगतियों से मुक्त हो जाता है और अनागामी होने पर मनुष्य और देवों के कामलोकों की गतियों से भी मुक्त हो जाता है, क्योंकि उसमें लेशमात्र भी कामराग शेष नहीं रह पाता। अनागामी जब मृत्यु को प्राप्त होता है, तब शुद्धावास नामक पांच रूप ब्रह्मलोकों में से किसी एक में जन्म लेता है। पांचों अधोभागीय संयोजनों के नष्ट हो जाने के कारण वह ब्रह्मलोक से नीचे के लोकों में जन्म लेने से सर्वथा विमुक्त हो जाता है।

अनागामी हुआ साधक ब्रह्मलोक में जन्म लेकर अथवा यहीं इसी लोक में विपश्यना करता हुआ पांच अन्य संयोजनों को भी नष्ट कर लेता है। ये ऊर्ध्वलोकों से संबंधित हैं, अतः **उद्धंभागीय** यानी ऊर्ध्वभागीय संयोजन कहलाते हैं। इन संयोजनों के कारण साधक –

(६) रूप-राग – रूप ब्रह्मलोकों के प्रति आसक्त रहता है।

(७) अरूप-राग – अरूप ब्रह्मलोकों के प्रति आसक्त रहता है।

(८) उसमें मान यानी अस्मिताभाव, अहंभाव बना रहता है। इस सूक्ष्म अहंभाव के कारण रूप और अरूप ब्रह्मलोकों की भव-तृष्णा बनी रहती है।

(९) औद्धत्य यानी बेचैनी – भव-तृष्णा के कारण सूक्ष्म अवस्था में बेचैनी कायम रहती है।

(१०) अविद्या – भव-तृष्णा के कारण ही अविद्या की झीनी परतें कायम रहती हैं, जो मुक्ति में बाधक बनती हैं।

अनागामी साधक विपश्यना के पथ पर आगे बढ़ता हुआ, नाम और रूप का विभाजन, विघटन करता हुआ इन पांचों ऊर्ध्वभागीय संयोजनों को भी नष्ट कर देता है और अरहंत अवस्था को प्राप्त करते हुए जिस निरोध यानी निर्वाणिक अवस्था की अनुभूति करता है, उससे सभी लोकों के जन्मों से मुक्त हो जाता है। उसका पुनर्जन्म नहीं होता। वह इस सच्चाई को अनुभूति के स्तर पर जान लेता है कि किसी भी लोक में नये जन्म देने वाले सारे भवसंस्कार उसने नष्ट कर लिये हैं। यही दुःखनिरोध अवस्था है। इसका स्वयं साक्षात्कार करना है। यही तीसरे आर्यसत्य का **तिपरिवट्टं** ज्ञान है। यही बोधिसत्त्व की सम्यक संबोधि है।

इसी प्रकार चौथे आर्यसत्य **दुःखनिरोधगामिनी पटिपदा** को भी तिहरे रूप में जानना आवश्यक है –

४- (क) चौथा आर्यसत्य है – सभी दुःखों का निरोधक आठ अंग वाला आर्यमार्ग **अरियो अट्ठङ्गिको मग्गो**। इसकी तीनों आवृत्तियों को भी विवरण सहित समझें –

१. **सम्मादिट्ठि** – सम्यक दर्शन, सही यथाभूत दर्शन।

२. **सम्मासङ्कप्पो** – सम्यक संकल्प, सही चिंतन।

३. **सम्मावाचा** – सम्यक वचन, सही सत्य वाणी।

४. **सम्माकम्मन्तो** – सम्यक कर्मांत, सही शारीरिक कर्म।

५. **सम्माआजीवो** – सम्यक आजीविका, सही आजीविका।

६. **सम्मावायामो** – सम्यक व्यायाम, सही प्रयत्न (परिश्रम)।

७. **सम्मासति** – सम्यक स्मृति, सही जागरूकता।

८. **सम्मासमाधि** – सम्यक समाधि, सही समाधि।

(सं० नि० ३.५.१०८१, धम्मचक्कप्पवत्तनसुत्त)

इस आठ अंग वाले आर्यमार्ग के तीन विभाग हैं–

(क) तीसरा, चौथा और पांचवां शील-सदाचार का विभाग;

(ख) छठा, सातवां और आठवां समाधि का विभाग और,

(ग) पहला और दूसरा प्रज्ञा का विभाग।

इसकी पहली आवृत्ति है– इस शील, समाधि, प्रज्ञा के आर्य अष्टांगिक मार्ग को दुःख-निरोधक और मुक्तिप्रदायक स्वीकार करना।

जब कोई व्यक्ति मिथ्या मान्यताओं में उलझा होता है, तब इस चौथे आर्यसत्य को सिद्धांत रूप में भी स्वीकार नहीं करता।

वह सत्कर्म के सत्फल और दुष्कर्म के दुष्फल प्राप्त होने के सिद्धांत को ही नहीं स्वीकारता, न वह कर्मफल भोगने के लिए पुनर्जन्म होने को स्वीकारता है। वह दुराचार में दोष नहीं देखता। ऐसा व्यक्ति शील पर आधारित अष्टांगिक मार्ग को क्यों स्वीकार करेगा?

कोई एक व्यक्ति ऐसी किसी मिथ्या मान्यता में उलझा होता है कि हर व्यक्ति के भीतर एक ऐसी आत्मा निवास करती है, जो अजर है, अमर है, नित्य है, शाश्वत है, ध्रुव है, कूटस्थ है। वह इस मान्यता के बहकावे में आकर चाहे जितनी हत्याएं करे, खून-खराबा करे, फिर भी यह मानता रहेगा कि जिनको मार रहा हूं, वे आत्मा के स्तर पर अमर हैं। अतः उनकी हत्या करने में कोई दोष नहीं है। ऐसा व्यक्ति मुक्तिमार्ग पर शील सदाचार

का पहला कदम ही नहीं उठा पाता; समाधि और प्रज्ञा के दूसरे और तीसरे कदम की लच्छेदार बातें भले कर ले, पर धारण करना आवश्यक नहीं समझता।

कोई एक व्यक्ति ऐसी मिथ्या दृष्टि में उलझा होता है कि अपने भीतर जो नित्य, शाश्वत, ध्रुव आत्मा है, उसका दर्शन होते ही वह स्वतः भवमुक्त हो जायगा। वह भी शील, समाधि, प्रज्ञा की प्रशंसा तो खूब करेगा, पर पालन करना कतई आवश्यक नहीं समझेगा। वह बार-बार अपने भीतर एक आत्मा की कल्पना करेगा। जितना बड़ा शरीर उतनी बड़ी आत्मा या अंगुष्ठ-प्रमाण आत्मा, या तिल के जितनी बड़ी या बाल की नोक के जितनी बड़ी आत्मा की कल्पना करेगा और उसका दर्शन कर पाने के मिथ्या उपक्रम में अपने जीवन का सारा श्रम लगा देगा।

कोई एक व्यक्ति ऐसी मिथ्या मान्यता में उलझा होता है कि ऐसा एक ईश्वर या ब्रह्म है जो मुझ पर दया करके, मेरे अनेक पाप कर्मों के रहते हुए भी मुझे माफ कर देगा और भवसागर से तार देगा। ऐसा व्यक्ति भी शील, समाधि, प्रज्ञा को अच्छा तो जरूर कहेगा, पर उनका पालन करना आवश्यक नहीं समझेगा। वह यही प्रयत्न करता रहेगा कि उस तारक ईश्वर का नाम जप कर अथवा उसकी अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा, प्रशस्ति करके, उसे खुश कर लूं, ताकि वह मुझे तार दे। ऐसा व्यक्ति इसी धोखे में अपना सारा पुरुषार्थ लगा देगा।

कोई एक व्यक्ति ऐसी मिथ्या दृष्टि में उलझा होता है कि उस तारक ईश्वर का रूप दर्शन हो जाय, तो स्वतः तर जाऊंगा। ऐसा व्यक्ति भी शील, समाधि, प्रज्ञा की प्रशंसा खूब करेगा, परंतु उनका पालन करना आवश्यक नहीं समझेगा। अपने प्रियतम ईश्वर के रूपकाय के दर्शन के लिए छटपटायेगा; उसके विरह में रुदन-क्रंदन करेगा; दर्शन देने के लिए उससे अनुनय-विनय करेगा और इसी में अपना सारा श्रम लगा देगा।

कोई एक व्यक्ति पांच शीलों में से किसी एक शील के प्रति अथवा उपवास आदि किसी एक व्रत के प्रति आसक्त होकर, उसे ही मुक्ति का उपाय मान लेता है। ऐसा व्यक्ति भी शील, समाधि और प्रज्ञा की प्रशंसा

खूब करेगा, परंतु उनका पालन करना आवश्यक नहीं समझेगा। वह अपने जीवन का सारा श्रम, सारी ऊर्जा, उस-उस शील को, उस-उस व्रत को अतियों तक धारण करने में ही लगा देगा और इसी में संतोष मान लेगा।

धर्म-वाणी सुन कर जो इन मिथ्या जंजालों से सर्वथा मुक्त होता है, वह इस बात को स्वीकार कर लेता है कि शील, समाधि, प्रज्ञा का अष्टांगिक मार्ग ही भवमुक्ति का एकमात्र मार्ग है – **एकायनो मग्गो** है, परंतु श्रद्धा के स्तर पर यह स्वीकार करना अच्छा होते हुए भी चौथे आर्यसत्य की पहली आवृत्ति मात्र ही है। इससे बोधि नहीं जाग सकती, भव-विमुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

४- (ख) इस आर्यसत्य की दूसरी आवृत्ति है **भावितब्बो** यानी यह मार्ग प्रत्यक्ष अनुभूतियों द्वारा भावित करने योग्य है, बहुलीकृत करने योग्य है। परंतु बुद्धि के स्तर पर स्वीकृत इस दूसरी आवृत्ति से भी न बोधि मिलती है और न भव-विमुक्ति।

४- (ग) इसके लिए आर्यसत्य की तीसरी आवृत्ति को क्रियान्वित करना अनिवार्य है। इसे पूरा करके ही कोई कह सकता है – **भावितं** यानी मैंने इस चौथे आर्यसत्य को भावित कर लिया यानी उसके आठ अंगों में से प्रत्येक को बार-बार अनुभूति पर उतार कर परिपक्व कर लिया। यों शील, समाधि और प्रज्ञा में पुष्ट हुआ व्यक्ति बोधि के बल पर **सोतापन्न, सकदागामी, अनागामी** और अंततः **अरहंत** की फल अवस्था उपलब्ध कर भव-विमुक्त होता है।

इन चारों आर्यसत्यों की पहली-पहली आवृत्ति यानी **एकपरिवट्टं** को श्रद्धा के स्तर पर स्वीकारने से लाभ अवश्य होता है, क्योंकि अगली कड़ी इसके बिना पूरी नहीं हो सकती। पहली आवृत्ति द्वारा कम से कम **योनिसोमनसिकार** तो होता है, सम्यक संकल्प तो होता है यानी व्यक्ति सही दिशा में सोचना तो शुरू करता है। इसी प्रकार दूसरी-दूसरी आवृत्ति यानी **द्विपरिवट्टं** से लाभ अवश्य होता है, क्योंकि इसके बिना इससे अगली कड़ी पूरी नहीं हो सकती। इसके द्वारा बुद्धि के स्तर पर स्वीकार कर निश्चय किया जाता है कि सच्चाई को अनुभव पर उतारना आवश्यक है, परंतु सही

लाभ तो सचमुच अनुभूति पर उतार लेने से ही यानी इन आर्यसत्यों की तीसरी-तीसरी आवृत्ति यानी **तिपरिवट्टं** पूरी कर लेने से ही होता है।

ये चारों आर्यसत्य **तिपरिवट्टं, द्वादसाकारं** पूरा कर लेने पर ही तथागत सम्यक संबुद्ध बने।

किसी सामान्य श्रावक को चारों आर्यसत्यों की प्रथम आवृत्ति श्रुतज्ञान द्वारा प्राप्त होती है, परंतु सम्यक संबुद्ध की संबोधि का आधार श्रुत नहीं होता। उनके लिए पहली और दूसरी दोनों आवृत्तियां चिंतन के आधार पर होती हैं और तीसरी अनुभूति के आधार पर। इसी से वे सम्यक संबुद्ध बनते हैं। उन्होंने दुःख आर्यसत्य का परिज्ञान प्राप्त कर लिया, समुदय आर्यसत्य का प्रहाण कर लिया, निरोध आर्यसत्य का साक्षात्कार कर लिया और मार्ग आर्यसत्य को भावित कर लिया। यह कर लेने पर ही उनका ज्ञान सम्यक ज्ञान हुआ। उनका दर्शन सम्यक दर्शन हुआ। उनका ज्ञान, दर्शन यथाभूत यानी यथार्थतः सुविशुद्ध हुआ। तभी उनकी विमुक्ति सम्यक विमुक्ति हुई। ऐसा होने पर ही पूर्ण आश्वस्त हो कर उन्होंने सम्यक संबुद्ध होने का दावा किया और इसकी घोषणा की।

यतो च खो मे, भिक्खवे, इमेसु चतूसु अरियसच्चेसु एवं तिपरिवट्टं द्वादसाकारं यथाभूतं ञाणदस्सनं सुविसुद्धं अहोसि।

– भिक्षुओ, जब इस प्रकार तीन-तीन आवृत्तियों वाले इन चारों आर्यसत्यों के बारह प्रकार से यथाभूत ज्ञानदर्शन सुविशुद्ध हुए –

अथाहं, भिक्खवे, सदेवके लोके समारके सब्रह्मके सस्समणब्राह्मणिया पजाय सदेवमनुस्साय "अनुत्तरं सम्मासम्बोधिं अभिसम्बुद्धो"ति पच्चञ्ञासिं।

– भिक्षुओ! तब मैंने देवता-मार-ब्रह्मा के साथ इस लोक में, श्रमण और ब्राह्मणों में, जनता में, तथा देवता और मनुष्यों के बीच ऐसा दावा किया कि मैंने अनुत्तर सम्यक संबोधि का अभिसंबोध कर लिया है।

ञाणञ्च पन मे दस्सनं उदपादि – "अकुप्पा मे विमुत्ति, अयमन्तिमा जाति, नत्थिदानि पुनब्भवो"ति। (सं० नि० ३.५.१०८१, धम्मचक्कप्पवत्तनसुत्त)

– मुझमें इस तथ्य का ज्ञान और दर्शन उत्पन्न हो गया है कि यह मेरी अकंप विमुक्ति है; यह मेरा अंतिम जन्म है; इसके बाद पुनर्जन्म नहीं है।

ये चारों आर्यसत्य किसी संप्रदाय-विशेष की फिलॉसफी नहीं है, कोरी दार्शनिक मान्यता नहीं है। ये जीवन-जगत की सच्चाइयां हैं, जिन्हें भली-भांति समझने, स्वीकारने से और जिनका जीवन में परिपूर्णतया अनुभव कर लेने से कोई भी व्यक्ति भव-विमुक्त यानी दुःख-विमुक्त हो सकता है, चाहे वह सम्यक संबुद्ध हो या कोई अन्य।

हां, सम्यक संबुद्ध की विशेषता यह होती है कि असंख्य कल्पों के अनगिनत जन्मों में बृहद परिमाण में पारमिताएं पूरी कर लेने के कारण वे ऐसे युग में जन्म लेते हैं जबकि ये सच्चाइयां सर्वथा विलुप्त हो चुकी होती हैं। वह उन्हें इस प्रकार **तिपरिवट्टं, द्वादसाकारं** अनुभूत कर खोज निकालते हैं। एक-एक आर्यसत्य की एक-एक आवृत्ति उनके लिए स्पष्ट होती जाती है। वे देखते हैं कि –

पुब्बे अननुस्सुतेसु धम्मेसु चक्खुं उदपादि,

– पहले कभी न सुने गये धर्मों में धर्म-चक्षु उत्पन्न हो गया,

ञाणं उदपादि – ज्ञान उत्पन्न हो गया,

पञ्ञा उदपादि – प्रज्ञा उत्पन्न हो गयी,

विज्जा उदपादि – विद्या उत्पन्न हो गयी,

आलोको उदपादि – आलोक उत्पन्न हो गया।

(सं० नि० ३.५.१०८१, धम्मचक्कप्पवत्तनसुत्त)

सारा अंधकार दूर हो गया, अविद्या दूर हो गयी, दुष्प्रज्ञता दूर हो गयी, अज्ञान दूर हो गया, अंधापन दूर हो गया।

ऐसा धर्म-चक्षु प्राप्त हुआ कि तथागत चक्षुमान ही नहीं, स्वयं चक्षु हो गये – **चक्खुभूतो** ।

चक्खुं हि एसं परमं नरानं – (तथागत) मनुष्यों के उत्तम चक्षु ही हैं।

(थेरगा० १२५५, वङ्गीसत्थेरगाथा)

चक्खुं लोके समुप्पन्नं – (तथागत) संसार में चक्षु के रूप में उत्पन्न हुए हैं।

(सु० नि० ६०४, वासेट्ठसुत्त)

ऐसा ज्ञान जागा कि तथागत ज्ञानी ही नहीं, स्वयं ज्ञान हो गये – **ञाणभूतो** ।

ऐसा आलोक जागा कि तथागत आलोकित ही नहीं, स्वयं आलोक हो गये – **आलोकभूतो**। तथागत आलोकदाता हो गये।

धीरा च पज्जोतकरा भवन्ति – धीर प्रकाश देने वाले होते हैं।

(थेरगा० १२५८, वङ्गीसत्थेरगाथा)

तथागत अर्हत सम्यक संबुद्ध हो गये, भव-विमुक्त हो गये, सही माने में महापुरुष हो गये।

विमुत्तचित्तत्ता ख्वाहं, सारिपुत्त, 'महापुरिसो'ति वदामि।

– हे सारिपुत्त, जो विमुक्त-चित्त हो, उसे ही मैं 'महापुरुष' कहता हूं।

अविमुत्तचित्तत्ता 'नो महापुरिसो'ति वदामि।

(सं० नि० ३.५.३७७, महापुरिससुत्त)

– जो विमुक्त-चित्त नहीं है, उसे मैं 'महापुरुष' नहीं कहता।

चारों आर्यसत्यों की अनुभूति बिना मुक्ति संभव नहीं

तथागत विमुक्तचित्त हो गये। भवभ्रमण से नितांत विमुक्त हो गये। स्वयं विमुक्त होकर लोगों को विमुक्ति का सही मार्ग सिखाने लगे। भवबंधन और भवविमुक्ति की इन अनुभवजन्य सच्चाइयों को जान कर ही उन्होंने यह घोषणा की –

यो, भिक्खवे, एवं वदेय्य – भिक्षुओ, कोई ऐसा कहे कि –

अहं, दुक्खं अरियसच्चं... दुक्खसमुदयं अरियसच्चं... दुक्खनिरोधं अरियसच्चं... दुक्खनिरोधगामिनिं पटिपदं अरियसच्चं यथाभूतं अनभिसमेच्च।

– दुःख आर्यसत्य, दुःख-समुदय आर्यसत्य, दुःख-निरोध आर्यसत्य और दुःख-निरोधगामिनी प्रतिपदा आर्यसत्य का यथाभूत अनुभूतिजन्य ज्ञान उपलब्ध किये बिना ही मैं –

सम्मा दुक्खस्सन्तं करिस्सामि – सम्यक रूप से यानी सही माने में दुःखों का अंत कर लूंगा,

नेतं ठानं विज्जति – तो इसकी कोई संभावना विद्यमान नहीं। यह असंभव है.

(सं० नि० ३.५.११०२, खदिरपत्तसुत्त)

क्योंकि –

यं खो, आवुसो, दुक्खे अञ्ञाणं, दुक्खसमुदये अञ्ञाणं, दुक्खनिरोधे अञ्ञाणं, दुक्खनिरोधगामिनिया पटिपदाय अञ्ञाणं – अयं वुच्चतावुसो, 'अविज्जा'।

(म० नि० १.१०३, सम्मादिट्ठिसुत्त)

– आवुसो, यह जो दुःख का अज्ञान है, दुःख-समुदय का अज्ञान है, दुःख-निरोध का अज्ञान है, दुःख-निरोधगामिनी प्रतिपदा का अज्ञान है – यही अविद्या है।

और जब तक अविद्या है, तब तक भवविमुक्ति का दरवाजा बंद है, क्योंकि ऐसा व्यक्ति कभी जान नहीं पाता कि सभी सांसारिक सुखों में दुःख समाया हुआ है। वह कभी जान नहीं पाता कि सभी दुःखों का मूल कारण तृष्णा है। वह कभी जान नहीं पाता कि तृष्णा को जड़ से खोद कर ही दुःख-निरोध की अवस्था प्राप्त हो सकती है। वह कभी जान नहीं पाता कि दुःख-निरोध के लिए शील, समाधि, प्रज्ञा के आर्य अष्टांगिक मार्ग पर चलना अनिवार्य है। जो यह नहीं जान पाता वह मुक्ति के मार्ग पर कैसे चलेगा? चलेगा नहीं तो मुक्त कैसे होगा? उसके जीवन में अंधकार ही अंधकार समाया रहेगा।

यतो च खो, भिक्खवे, चन्दिमसूरिया लोके उप्पज्जन्ति, अथ महतो आलोकस्स पातुभावो होति महतो ओभासस्स।

– भिक्षुओ, संसार में जब चांद या सूरज उगा रहता है, तो महान आलोक-अवभास का प्रादुर्भाव होता है, प्रभूत प्रकाश का प्रादुर्भाव होता है।

एवमेव खो, भिक्खवे – इसी प्रकार, भिक्षुओ –

यावकीवञ्च तथागतो लोके नुप्पज्जति अरहं सम्मासम्बुद्धो,

– जब तक तथागत अरहंत सम्यक संबुद्ध संसार में उत्पन्न नहीं होते,

नेव ताव महतो आलोकस्स पातुभावो होति महतो ओभासस्स,

– तब तक प्रभूत प्रकाश एवं आलोक का प्रादुर्भाव नहीं होता,

अन्धतमं तदा होति अन्धकारतिमिसा।

– तब तक अँधेरी तमिस्रा(रात) का अँधियारा छाया रहता है।

नेव ताव चतुन्नं अरियसच्चानं आचिक्खणा होति देसना पञ्ञापना पट्ठपना विवरणा विभजना उत्तानीकम्मं।

(सं० नि० ३.५.११०८, दुतियसूरियसुत्त)

– तब तक न चार आर्यसत्यों की चर्चा होती है, न देशना, न प्रज्ञापना, न प्रस्थापना, न विवरणा (अनावरण करना), न विभाजन करना और न ही स्पष्ट करना।

आर्य अष्टांगिक मार्ग

संसार में सम्यक संबुद्ध का प्रादुर्भाव होता है तभी इन चारों आर्यसत्यों का प्रकाशन होता है और शील, समाधि तथा प्रज्ञा के आर्य अष्टांगिक मार्ग पर सफलतापूर्वक चलने की विधि प्रकाश में आती है।

कोई भी व्यक्ति सच्चाई को समझते हुए शील, समाधि तथा प्रज्ञा के आर्य अष्टांगिक मार्ग पर चलता है, तो निश्चित रूप से निर्वाण की ओर बढ़ता चला जाता है। उसे कोई नहीं रोक पाता।

सेय्यथापि, भिक्खवे, गङ्गा नदी पाचीननिन्ना पाचीनपोणा पाचीनपब्भारा;

– जिस प्रकार, भिक्षुओ, गंगा नदी पूर्व दिशा की ओर झुकती है, पूर्व दिशा की ओर आमुख होती है, पूर्व दिशा की ओर प्रवाहित होती है;

एवमेव खो, भिक्खवे, भिक्खु अरियं अट्ठङ्गिकं मग्गं भावेन्तो अरियं अट्ठङ्गिकं मग्गं बहुलीकरोन्तो निब्बाननिन्नो होति निब्बानपोणो निब्बानपब्भारो।

(सं० नि० ३.५.९१, पठमपाचीननिन्नसुत्त)

– उसी प्रकार, भिक्षुओ, जो भिक्षु आर्य अष्टांगिक मार्ग को भावित करता है, बहुलीकृत करता है, वह निर्वाण की ओर झुकता है, निर्वाणाभिमुख होता है, निर्वाण की ओर बढ़ता है।

एक आर्यसत्य में चारों समाये हैं

चारों आर्यसत्यों में आर्य अष्टांगिक मार्ग प्रयोगात्मक होने के कारण प्रमुख है। चारों आर्यसत्यों के **तिपरिवट्टं द्वादसाकारं** का अनुभव करने के लिए अष्टांगिक आर्यमार्ग अनिवार्य है। वैसे इन चार आर्यसत्यों को सिद्धांत रूप में स्वीकार कर लेना एक बात है। परंतु तिहरा करके बारह प्रकार से अनुभव करना हो, तो किसी भी एक का साक्षात्कार करने पर शेष तीन का साक्षात्कार स्वतः हो जाता है।

यो, भिक्खवे, दुक्खं पस्सति, दुक्खसमुदयम्पि सो पस्सति, दुक्खनिरोधम्पि पस्सति, दुक्खनिरोधगामिनिं पटिपदम्पि पस्सति।

– भिक्षुओ, जो दुःख का दर्शन करता है, वह दुःख-समुदय का भी, दुःख-निरोध का भी, दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा का भी दर्शन करता है।

दुःख की सारी परिधि को पार कर के दुःख निरोध को देख लेना ही दुःख का परिज्ञान है। इस उपक्रम में दुःख-समुदय यानी तृष्णा (राग-द्वेष) का दर्शन स्वतः बार-बार होते रहता है और दुःख के क्षेत्र को पार करने के लिए शील, समाधि, प्रज्ञारूपी आर्य अष्टांगिक मार्ग के एक-एक अंग का दर्शन अनुभूति पर उतरता है। यों पहले आर्यसत्य के दर्शन से दूसरे, तीसरे और चौथे का दर्शन अनायास हो जाता है। इसी प्रकार –

यो दुक्खसमुदयं पस्सति, दुक्खम्पि सो पस्सति, दुक्खनिरोधम्पि पस्सति, दुक्खनिरोधगामिनिं पटिपदम्पि पस्सति।

– जो दुःख-समुदय रूपी तृष्णा का दर्शन करता है, वह दुःख का, दुःख-निरोध का, दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा का स्वतः दर्शन कर लेता है।

इसी प्रकार –

यो दुक्खनिरोधं पस्सति, दुक्खम्पि सो पस्सति, दुक्खसमुदयम्पि पस्सति, दुक्खनिरोधगामिनिं पटिपदम्पि पस्सति।

– जो दुःख-निरोध का दर्शन करता है, वह दुःख का भी, दुःख-समुदय का भी और दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा का भी दर्शन कर लेता है।

इसी प्रकार –

यो दुक्खनिरोधगामिनिं पटिपदं पस्सति, दुक्खम्पि सो पस्सति, दुक्खसमुदयम्पि पस्सति, दुक्खनिरोधम्पि पस्सति।

(सं० नि० ३.५.११००, गवम्पतिसुत्त)

– जो दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा का दर्शन करता है, वह दुःख का, दुःख-समुदय का और दुःख-निरोध का भी दर्शन कर लेता है।

साधक जब दर्शन यानी अनुभूति के क्षेत्र में उतरता है तो देखता है कि एक आर्यसत्य में चारों समाये हुए हैं। एक का दर्शन पूरा करते हुए बाकी तीनों का दर्शन स्वतः हो जाता है।

चारों आर्यसत्यों के दर्शन में महामंगल समाया हुआ है –

अरियसच्चान दस्सनं... एतं मङ्गलमुत्तमं। (सु० नि० २७०, मङ्गलसुत्त)

यो अरियसच्चानि अवेच्च पस्सति। (सु० नि० २३१, रतनसुत्त)

– जो आर्यसत्यों को निश्चित रूप से देखता है,

वह उन्हें भावित कर लेता है और –

ये अरियसच्चानि विभावयन्ति। (सु० नि० २३२, रतनसुत्त)

– जो आर्यसत्यों को विशेष रूप से भावित कर लेते हैं,

वे अनार्य से आर्य बन जाते हैं। इसीलिए इन आर्यसत्यों के दर्शन में उत्तम मंगल समाया हुआ है।

आर्यसत्य सत्य हैं

इमानि खो, भिक्खवे, चत्तारि अरियसच्चानि, तथानि, अवितथानि, अनञ्ञथानि, तस्मा 'अरियसच्चानी'ति वुच्चन्ति।

(सं० नि० ३.५.२०९७, तथसुत्त)

– भिक्षुओ, ये चारों आर्यसत्य तथ्य हैं, वितथ नहीं हैं, अन्यथा नहीं हैं; तभी आर्यसत्य कहलाते हैं।

ये सत्य से परे नहीं हैं। कोरी कल्पनाएं नहीं हैं। किसी संप्रदाय-विशेष की अंधविश्वास-भरी दार्शनिक मान्यताएं नहीं हैं। जीवन-जगत की ऐसी सच्चाइयां हैं, जिनका साक्षात्कार किसी भी संप्रदाय का कोई भी व्यक्ति कर सकता है और परिणामतः भवविमुक्त हो सकता है। इन चारों आर्यसत्यों के साक्षात्कार की अंतिम उपलब्धि दुःखनिरोध आर्यसत्य है। यही इंद्रियातीत निर्वाण है जिसका प्रथम साक्षात्कार होने से स्रोतापन्न अवस्था प्राप्त होती है और साधक अनार्य से आर्य बन जाता है; भले वह किसी भी जाति, वर्ण, गोत्र और संप्रदाय का क्यों न हो। जिनके साक्षात्कार से कोई भी व्यक्ति आर्य बन जाय, उनका आर्यसत्य कहलाना उचित ही है।

लोके ... तथागतो अरियो, तस्मा 'अरियसच्चानी'ति वुच्चन्ति।

(सं० नि० ३.५.२०९८, लोकसुत्त)

– लोक में तथागत आर्य हैं। इसलिए भी इन्हें 'आर्यसत्य' कहते हैं।

जो स्वयं आर्य होगा वह जिन अनुभूतिजन्य सत्यों का प्रकाशन करेगा, वे आर्यसत्य ही कहलायेंगे।

इस युग में, मिथ्या मान्यताजन्य कल्पनाओं को छोड़ कर तथता के मार्ग पर चलते हुए तथागत ही पहले व्यक्ति थे जो आर्य बने। औरों ने इसी तथता का दर्शन करते हुए उनका अनुगमन किया, तो ही वे भी आर्य बने।

इमेसं खो, भिक्खवे, चतुन्नं अरियसच्चानं यथाभूतं अभिसम्बुद्धत्ता तथागतो 'अरहं सम्मासम्बुद्धो'ति वुच्चति। (सं० नि० ३.५.२०९३, सम्मासम्बुद्धसुत्त)

इन चार आर्यसत्यों का यथाभूत दर्शन करके ही तथागत सम्यक संबुद्ध कहलाते हैं। उन्हीं का अनुकरण कर अन्य अनेक भी आर्य बने।

चार आर्यसत्य वास्तविक दर्शन हैं

– दार्शनिक मान्यता नहीं

जीवन जगत की ये चारों महत्त्वपूर्ण सच्चाइयां जब केवल दार्शनिक मान्यता बन कर रह जाती हैं, तब अन्य सभी दार्शनिक मान्यताओं की भांति निष्फल होती हैं; निरर्थक होती हैं और केवल सांप्रदायिक वाद-विवाद का कारण बनती हैं। परंतु इन्हीं का जब यथार्थ दर्शन होता है, तब ये मुक्तिदायिनी हो जाती हैं; सफल, सार्थक हो जाती हैं।

चार आर्यसत्य ही नहीं, उनका **तिपरिवट्टं द्वादसाकारं** यानी तिहरा और बारह प्रकार का स्वरूप भी केवल पाठ बन कर रह जाय, अथवा किसी संप्रदाय की मात्र मान्यता बन कर रह जाय, तो सचमुच बड़ा दुर्भाग्य होता है। किसी भी सांप्रदायिक दृष्टि का बंधन बड़ा दृढ़ होता है। उससे छूट पाना कठिन होता है। जब इन चारों आर्यसत्यों का वास्तविक दर्शन होता है यानी जब वे अनुभूति पर उतर जाते हैं, तब सभी थोथी मान्यताएं स्वतः छूट जाती हैं। जब यथाभूत दर्शन हो जाता है; सत्य का अभिसंबोध हो जाता है; तब वह महज चिंतन का विषय नहीं रहता; विवाद का विषय नहीं रहता।

चारों आर्यसत्यों का यथाभूत दर्शन होने का अर्थ हुआ – इंद्रियातीत निर्वाण का यथाभूत दर्शन होना। सारी दार्शनिक मान्यताएं ऐंद्रिय क्षेत्र तक ही सीमित रहती हैं। इंद्रियातीत बोध होने पर ऐसी कोई मान्यता टिक नहीं सकती।

यं, भिक्खवे, सदेवकस्स लोकस्स समारकस्स सब्रह्मकस्स सस्समणब्राह्मणिया पजाय सदेवमनुस्साय दिट्ठं सुतं मुतं विञ्ञातं पत्तं परियेसितं अनुविचरितं मनसा।

– भिक्षुओ, संसार में देवताओं सहित मार, ब्रह्मा, श्रमण, ब्राह्मण तथा अन्य देव मनुष्यों द्वारा इंद्रियों के क्षेत्र में जो कुछ आंखों से देखा गया,

कानों से सुना गया; नाक, जीभ, त्वचा से सूंघा, चखा और छुआ गया; मानस द्वारा मनन किया गया; उनके द्वारा इसी ऐंद्रिय क्षेत्र में अंतिम अवस्था की प्राप्ति मान ली गयी, क्योंकि (अंतिम सत्य) इसी क्षेत्र में खोजा गया; इसी का चिंतन मनन किया गया; इसी ऐंद्रिय क्षेत्र में उनका मानसिक विचरण होता रहा, जबकि तथागत ने इस ऐंद्रिय जगत की अनित्यधर्मा तथता यानी सच्चाई का साक्षात्कार करके इसके परे नित्यधर्मा इंद्रियातीत निर्वाणिक तथता का भी साक्षात्कार कर लिया।

यस्मा तं तथागतेन अभिसम्बुद्धं, तस्मा 'तथागतो'ति वुच्चति।

(इतिवु० ११२, लोकसुत्त)

– वह (परम सत्य) तथागत द्वारा अभिसंबोध कर लिया गया, इसीलिए तथागत को 'तथागत' कहते हैं।

जब ऐंद्रिय जगत में ही **परियेसितं** यानी खोज होती है और इसी क्षेत्र की किसी अवस्था को **पत्तं** यानी प्राप्त हुआ मान लिया जाता है, तब भिन्न-भिन्न मील के पत्थरों की उपलब्धियां भिन्न-भिन्न दार्शनिक मान्यताएं बन जाती हैं। तथागत ऐंद्रिय क्षेत्र के इन सारे मील के पत्थरों को पार कर इंद्रियातीत निर्वाण का साक्षात्कार कर लेते हैं। अतः सभी दार्शनिक मान्यताओं से ऊपर उठ जाते हैं, उनसे मुक्त हो जाते हैं। उनकी अपनी भी कोई दार्शनिक मान्यता नहीं होती, क्योंकि तथागत द्वारा दार्शनिक मान्यताओं का क्षेत्र ही छोड़ दिया जाता है। नाम और रूप का ऐंद्रिय क्षेत्र ही दार्शनिक मान्यताओं का क्षेत्र है।

जब कोई व्यक्ति नाम और रूप के अथवा यों कहें, छः इंद्रियों और उनके विषयों के संपूर्ण क्षेत्र को अनुभूति से जान लेता है, तब खूब समझ लेता है कि यह समुदयधर्मा है, व्ययधर्मा है, यानी अनित्य है, नश्वर है, भंगुर है। चाहे नीचे अधोलोक का कोई क्षेत्र हो अथवा ऊपर भवाग्र अरूप ब्रह्मलोक तक का कोई क्षेत्र हो, सभी लौकिक क्षेत्र अनित्य हैं, नश्वर हैं, भंगुर हैं, विपरिणामधर्मा हैं, परिवर्तनशील हैं। यह अनित्यबोध अंधश्रद्धा द्वारा स्वीकार नहीं किया जाता, न ही बौद्धिक तर्क-वितर्क द्वारा, न

ऊहापोह द्वारा, बल्कि प्रज्ञाजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा अनुभव किया जाता है।–

सब्बे सङ्खारा अनिच्चाति, यदा पञ्ञाय पस्सति। (ध० प० २७७, मग्गवग्ग)

– सारे संस्कृत पदार्थ व अवस्थाएं अनित्य हैं, जब यह प्रज्ञा के चक्षु से देख लेता है,

तब यह स्पष्ट हो जाता है कि चाहे मानवलोक की सुख सुविधाएं हों, अथवा देवलोक के दिव्य सुखभोग हों, अथवा रूप और अरूप ब्रह्मलोक के दीर्घजीवी ब्राह्मी सुख हों, सारे सुख देर-सबेर नष्ट हो जाने वाले हैं क्योंकि अनित्यधर्मा हैं और प्रत्येक सुख नष्ट होकर दुःख में ही बदलता है। अतः सभी लौकिक सुख अंततः दुःखदायी हैं। सारे लौकिक सुखों के भीतर बीज रूप में दुःख समाया हुआ है, सभी सुख दुक्खगर्भा है। निर्वाण का साक्षात्कार हो जाने पर ही साधक यह जान पाता है कि नित्य, शाश्वत, ध्रुव होने के कारण वस्तुतः निर्वाण ही परम सुख है।

निब्बानं परमं सुखं। (ध० प० २०४, सुखवग्ग)

निर्वाण का परम सुख अनुभूत हो जाने पर इसकी तुलना में सारे लौकिक सुख, दुःख सदृश ही लगने लगते हैं। तब यह स्पष्ट होता है–

यं परे सुखतो आहु, तदरिया आहु दुक्खतो।
यं परे दुक्खतो आहु, तदरिया सुखतो विदू॥

(सं० नि० २.४.१३६, पठमरूपारामसुत्त)

– जिसे अन्य लोग सुख कहते हैं, उसे आर्य दुःख कहते हैं। जिसे अन्य दुःख कहते हैं, उसे आर्यसुख के रूप में जान लेते हैं।

आर्य है इसलिए इस सच्चाई को प्रज्ञाचक्षु द्वारा जान लेता है।

सब्बे सङ्खारा दुक्खाति, यदा पञ्ञाय पस्सति। (ध० प० २७८, मग्गवग्ग)

– सारे संस्कृत पदार्थ व अवस्थाएं दुःख ही हैं जब इसे प्रज्ञा के चक्षु से देख लेता है,

तब इस अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते स्पष्ट हो जाता है कि जो अनित्य है, विपरिणामधर्मा है, वह इस कारण दुःख ही है –

यदनिच्चं तं दुक्खं।

– जो अनित्य है सो दुःख है।

और तब यह भी जानना आसान हो जाता है कि –

यं दुक्खं तदनत्ता, यदनत्ता तं 'नेतं मम, नेसोहमस्मि, न मेसो अत्ता'ति।

(सं० नि० २.३.१५, यदनिच्चसुत्त)

– जो दुःख है, वह अनात्म है। जो अनात्म है, 'वह न मेरा है, न मैं हूं, न मेरी आत्मा' है।

और इसे प्रज्ञा से देख भी लेता है।

सब्बे धम्मा अनत्ताति, यदा पञ्ञाय पस्सति।

– सारे धर्म अनात्म हैं, जब यह प्रज्ञाचक्षु से देख लेता है तो –

अथ निब्बिन्दति दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया॥ (ध० प० २७९, मग्गवग्ग)

– वह सभी दुःखों में निर्वेद प्राप्त कर लेता है। यह है विशुद्धि का मार्ग, विमुक्ति का मार्ग।

जैसे सारी अनित्य लौकिक अवस्थाएं, वैसे ही लोकोत्तर निर्वाण की नित्य अवस्था भी **मैं, मेरी,** अथवा **मेरी आत्मा** नहीं है। उस अनंत असीम अवस्था में किसी ससीम व्यक्ति का व्यक्तित्व टिक नहीं पाता। इस इंद्रियातीत अनिर्वचनीय अवस्था को 'मैं', 'मेरी' और 'मेरी आत्मा' किस बलबूते पर कहें? अनिर्वचनीय को किन शब्दों में वचनीय करें? यह सत्य निर्वाण के साक्षात्कार से स्पष्ट हो जाता है।

इस अवस्था तक पहुँचा हुआ व्यक्ति अहंकार, ममकार से सर्वथा विमुक्त हो जाता है। भले व्यवहार के लिए अनासक्त भाव से **मैं-मेरे** जैसे शब्दों का प्रयोग करता रहे, परंतु उसका अभिमानरूपी अंतःशायी क्लेश पूर्णतया समाप्त हो गया होता है। इसलिए उसकी सारी दार्शनिक मान्यताएं अपने आप समाप्त हो जाती हैं। सारे चित्त-मंथन और निरर्थक

थूक-बिलोवन स्वतः दूर हो जाते हैं। ऐसा व्यक्ति सहज ही समझ जाता है कि यह जो भिन्न-भिन्न मान्यताएं हैं, उनमें से प्रत्येक –

सदुक्खं सविघातं सउपायासं सपरिळाहं;

– दुःखमय है, आघातमय है, क्लेशमय है, प्रज्वलनमय है;

न निब्बिदाय, न विरागाय, न निरोधाय, न उपसमाय, न अभिञ्ञाय, न सम्बोधाय, न निब्बानाय संवत्तति।

– न निर्वेद, न वीतरागता, न निरोध, न उपशमन, न अभिज्ञान, न संबोधि और न ही निर्वाण की ओर ले जाती है।

विभिन्न मत-मतांतरों की ऐसी निरर्थक दार्शनिक मान्यताएं उसके लिए सर्वथा त्याज्य होती हैं।

इमं खो अहं, वच्छ, आदीनवं सम्पस्समानो एवं इमानि सब्बसो दिट्ठिगतानि अनुपगतो। (म० नि० २.१८९, अग्गिवच्छसुत्त)

– हे वत्स, मैं इन सभी मत-मतांतरों की दार्शनिक मान्यताओं में खतरे और दुष्परिणाम को भली प्रकार देखकर इनमें नहीं पड़ता।

सारी सच्चाइयों को जाने-समझे हुए सम्यक संबुद्ध की अपनी अलग दार्शनिक मान्यता क्या होगी भला? उनका तो अनुभूतिपरक दर्शन ही होगा, यथाभूत प्रत्यक्ष दर्शन, अपरोक्ष दर्शन, सम्यक दर्शन; कल्पनाओं और कोरी मान्यताओं से सर्वथा दूर, सर्वथा अनावृत।

इसी कारण उनके लिए सारी दार्शनिक मान्यताएं त्याज्य हैं। उन्हें त्याग कर वे परम शांत अवस्था का जीवन जीते हैं। तभी उन्होंने कहा –

सब्बमञ्ञितानंत्वेव, भिक्खु, समतिक्कमा मुनि, 'सन्तो'ति वुच्चति।

(म० नि० ३.३६९, धातुविभङ्गसुत्त)

– हे भिक्षु, सभी दार्शनिक मान्यताओं के क्षेत्र का भली प्रकार अतिक्रमण कर देने वाला मुनि ही 'संत' कहा जाता है, शांत कहा जाता है।

ऐसे ही शांत मुनि विशुद्धि के मार्ग पर चल कर विशुद्ध, विमुक्त हो बुद्ध कहे जाते हैं।

कप्पानि विचेय्य केवलानि, संसारं दुभयं चुतूपपातं।
विगतरजमनङ्गणं विसुद्धं, पत्तं जातिखयं तमाहु बुद्धन्ति॥

(सु० नि० ५२२, सभियसुत्त)

– जो समस्त कल्पों के जानकार हैं, जो जन्म-मृत्यु रूपी संसार के जानकार हैं, जो मन के मैल और रज से विमुक्त, विशुद्ध, जन्म-क्षय की अवस्था को प्राप्त हैं, वे बुद्ध कहलाते हैं।

तभी तथागत सिंह-गर्जना जैसी यह धर्म-घोषणा करते हैं –

मुत्ताहं सब्बपासेहि, ये दिब्बा ये च मानुसा। (महाव० ३३, मारकथा)

– मैं देव और मनुष्यों के सभी बंधनों से मुक्त हूं।

इस मुक्त अवस्था पर किसी एक सिद्धार्थ गौतम का एकाधिकार नहीं है। सिद्धार्थ गौतम जैसे पूर्व काल में अनेक सम्यक संबुद्ध हुए और भविष्य में भी अनेक होते रहेंगे। जिस राह पर चल कर पूर्व काल के ऋषि सम्यक संबुद्ध बने, उसी पर चल कर सिद्धार्थ गौतम भी बने।

येनेव मग्गेन गतो विपस्सी, येनेव मग्गेन सिखी च वेस्सभू।
ककुसन्धकोणागमनो च कस्सपो, तेनञ्जसेन अगमासि गोतमो॥

(थेरगा० ४९०, सरभङ्गत्थेरगाथा)

– जिस मार्ग पर (पूर्व काल के) सम्यक संबुद्ध भगवान विपस्सी चले, जिस पर सिखी और वेस्सभू चले और जिस पर ककुसंध, कोणागमन और कस्सप चले, उसी पर अब गौतम चले।

शील, समाधि और प्रज्ञा के इस एक ही आर्य अष्टांगिक मार्ग पर चल कर ये सप्त ऋषि सम्यक संबुद्ध बने।

सीलं समाधि पञ्ञा च, विमुत्ति च अनुत्तरा।
अनुबुद्धा इमे धम्मा, गोतमेन यसस्सिना॥

(दी० नि० २.१८६, महापरिनिब्बानसुत्त)

– यशस्वी गौतम ने शील, समाधि, प्रज्ञा और श्रेष्ठतम विमुक्ति का बोध प्राप्त किया, ठीक वैसे ही किया जैसे कि पूर्व काल के बुद्धों ने किया और भविष्य के बुद्ध करेंगे। अन्य बुद्धों की भांति गौतम बुद्ध ने भी –

सीलं समाधि पञ्ञा च, यस्स एते सुभाविता।
अतिक्कम्म मारधेय्यं, आदिच्चोव विरोचति॥

(इतिवु० ५९, मारधेय्यसुत्त)

– शील, समाधि और प्रज्ञा को भली प्रकार भावित कर मृत्युराज के क्षेत्र का अतिक्रमण कर दिया यानी उसके परे चले गये और इस कारण वे सूर्य की भांति प्रकाशमान हैं।

सम्यक संबोधि प्राप्त कर बुद्ध ब्राह्मण हो गये।

यदा हवे पातुभवन्ति धम्मा, आतापिनो झायतो ब्राह्मणस्स।
अथस्स कङ्खा वपयन्ति सब्बा, यतो खयं पच्चयानं अवेदीति॥

(उदा० २, दुतियबोधिसुत्त)

– तपस्वी, ध्यानी ब्राह्मण (अरहंत) को जब धर्म प्रादुर्भूत हुआ, तब उनकी सारी शंकाएं दूर हो गयीं, (क्योंकि उन्होंने धर्म के हेतुओं को जाना) उन्होंने उनके क्षय हो जाने को जाना और परिणामतः –

विधूपयं तिट्ठति मारसेनं, सुरियोव ओभासयमन्तलिक्खं।

(उदा० ३, ततियबोधिसुत्त)

– मारसेना को पराजित कर वे उसी प्रकार प्रकाशमान हो स्थित हुए जैसे कि सूर्य अंतरिक्ष में प्रकाशमान होता है।

लेकिन जब यह उपमा पूरी तरह संगत नहीं लगी, तो कहा गया –

दिवा तपति आदिच्चो, रत्तिमाभाति चन्दिमा।
सम्बुद्धो तपतं सेट्ठो, एसा आभा अनुत्तरा॥

(सं० नि० १.१.२६, पज्जोतसुत्त)

– सूर्य दिन में तपता है, चंद्रमा रात में आभास्वर होता है, परंतु तपने वालों में संबुद्ध श्रेष्ठ हैं, उनकी आभा अनुत्तर है, अप्रतिम (अतुलनीय) है।

और कहा –

दिवा तपति आदिच्चो, रत्तिमाभाति चन्दिमा।
सन्नद्धो खत्तियो तपति, झायी तपति ब्राह्मणो।
अथ सब्बमहोरत्तिं, बुद्धो तपति तेजसा॥

(सं० नि० १.२.२४५, महाकप्पिनसुत्त)

- सूर्य केवल दिन में तपता है, चंद्रमा रात में आभासित होता है। क्षत्रिय जब शस्त्र सन्नद्ध हो, तब तपता है, ब्राह्मण जब ध्यानी हो, तब तपता है। परंतु बुद्ध अपने तेज से रात-दिन सभी समय तपते हैं।

यह बुद्धत्व का तेज केवल सिद्धार्थ गौतम का ही नहीं, सभी संबुद्धों का है।

जो सद्गुण भगवान गौतम बुद्ध में थे वे सभी बुद्धों में थे। भगवान कस्सप बुद्ध के लिए भी यही कहा गया -

समचित्तो समसमो, असहायो दयालयो।

(अप० थेर २.५३.१०२, सुगन्धत्थेर अपदान)

वे समताभरे चित्त के धनी हैं, वे सम असम हैं यानी अन्य प्राणियों की तुलना में असम हैं परंतु सभी बुद्धों की तुलना में सम हैं, यानी सभी बुद्ध परस्पर सम हैं। वे किसी पर आश्रित नहीं हैं, दयालय हैं। सभी बुद्ध **धम्मभूत** हैं।

वीततण्हा अनादाना, सत्त बुद्धा खयोगधा।
येहायं देसितो धम्मो, धम्मभूतेहि तादिहि॥

(थेरगा० ४९१, सरभङ्गत्थेरगाथा)

- तृष्णारहित, आसक्तिरहित सातों बुद्ध आस्रवक्षय की निर्वाणिक अवस्था को प्राप्त हुए। उन धर्मभूत बुद्धों ने इसी धर्म का उपदेश दिया।

चत्तारि अरियसच्चानि, अनुकम्पाय पाणिनं।
दुक्खं समुदयो मग्गो, निरोधो दुक्खसङ्खयो॥

(थेरगा० ४९२, सरभङ्गत्थेरगाथा)

- दुःख, दुःख का समुदय, दुःख का निरोध, दुःख-निरोध का मार्ग - इन चार आर्यसत्यों का ही प्राणियों पर अनुकंपा करते हुए उन्होंने उपदेश दिया।

आरंभ में यह शिक्षा लोगों को बांटने में भगवान गौतम बुद्ध को जरा हिचक हुई, क्योंकि उन्होंने सोचा कि -

अधिगतो खो म्यायं धम्मो गम्भीरो दुद्दसो, दुरनुबोधो, सन्तो, पणीतो, अतक्कावचरो, निपुणो पण्डितवेदनीयो। (महाव० ७, ब्रह्मयाचनकथा)

- यह धर्म जो मैंने अधिगत किया है, वह सचमुच गंभीर है, दुर्दर्शनीय है, दुर्ज्ञेय है, शांत है, प्रणीत है, तर्कों द्वारा अगम्य है, निपुण ज्ञानियों द्वारा ही अनुभव से जान सकने योग्य है।

दुद्दसं इदं ठानं यदिदं इदप्पच्चयतापटिच्चसमुप्पादो।

- यह जो कारणों पर आधारित प्रतीत्य-समुत्पाद के नियम हैं, ये दुर्दर्शनीय हैं।

अर्थात इन्हें अनुभूति पर उतारना दुष्कर है। जो लौकिक आलंबनों में उलझी हुई है, उनमें निमग्न है, उनसे आनंदित है, इस जनता के लिए यह गंभीर सूक्ष्म धर्म दुर्दर्शनीय है, अनुभवन योग्य नहीं है। यह जो उन्होंने चिंतन किया -

सब्बसङ्खारसमथो - सभी संस्कारों का उपशमन है,

सब्बूपधिपटिनिस्सग्गो - सभी उपधियों का त्याग करना है,

तण्हक्खयो, विरागो, निरोधो, निब्बानं,

- तृष्णा का क्षय है, वीतरागता है, निरोध है, निर्वाण है,

रागदोसपरेतेहि, नायं धम्मो सुसम्बुधो।

- इस धर्म का संबोध राग-द्वेषलिप्त इस जनता के लिए सुकर नहीं है।

भव-स्रोत के प्रतिकूल इस सूक्ष्म, गंभीर धर्म को -

रागरत्ता न दक्खन्ति, तमोखन्धेन आवुटा।

- घने अंधकार से आच्छादित, राग-रंजित लोग देख नहीं पायेंगे।

परंतु फिर समंतचक्षु बुद्ध ने देखा कि -

सन्ति सत्ता अप्परजक्खजातिका। (महाव० ८, ब्रह्मयाचनकथा)

- ऐसे लोग भी हैं, जिनकी आंखों पर मैल का बहुत झीना पर्दा पड़ा है।

वे अवश्य इसका लाभ ले सकेंगे। उनके हित, सुख, कल्याण के लिए भगवान ने धर्मचक्र-प्रवर्तन किया और अपने प्रथम उपदेश में यही **तिपरिवट्टं द्वादसाकारं** चार आर्यसत्य समझाये; क्योंकि इन आर्यसत्यों का साक्षात्कार किये बिना भव-संसरण से मुक्ति नहीं होती।

चतुन्नं, भिक्खवे, अरियसच्चानं अननुबोधा अप्पटिवेधा एवमिदं दीघमद्धानं सन्धावितं संसरितं ममञ्चेव तुम्हाकञ्च। (महाव० २८७, कोटिगामेसच्चकथा)

- भिक्षुओ, इन चारों आर्यसत्यों का इस प्रकार अनुबोध किये बिना, प्रतिवेधन किये बिना मैं लंबे समय तक इस संसार में दौड़ लगाता रहा हूं, संसरण करता रहा हूं, और तुम भी।

भगवान स्वयं इन चार आर्यसत्यों का साक्षात्कार करके ही भव-विमुक्त हुए, सम्यक सम्बुद्ध हुए।

अभिञ्ञेय्यं अभिञ्ञातं, भावेतब्बञ्च भावितं।
पहातब्बं पहीनं मे, तस्मा बुद्धोस्मि ब्राह्मण॥
(सु० नि० ५६३, सेलसुत्त)

- जो दुःख-सत्य और निरोध-सत्य अभिज्ञात करने योग्य थे, उनको मैंने अभिज्ञात कर लिया। जो मार्ग-सत्य भावित करने योग्य था, उसको मैंने भावित कर लिया। जो समुदय-सत्य प्रहाण करने योग्य था, उसका मैंने प्रहाण कर लिया। हे ब्राह्मण, मैं इसीलिए बुद्ध हूं।

उनकी इसी शिक्षा का अनुगमन कर उनके अनेकानेक शिष्य विमुक्त हुए, शिष्याएं विमुक्त हुयीं। एक उदाहरण -

माता महाप्रजापती गौतमी अपने धर्म-पिता तथागत की वंदना करती हुई कहती है -

सब्बदुक्खं परिञ्ञातं, हेतुतण्हा विसोसिता।
भावितो अट्ठङ्गिको मग्गो, निरोधो फुसितो मया॥
(थेरीगा० १५८, महापजापतिगोतमीथेरीगाथा)

- मैंने सारे दुःखों का परिज्ञान कर लिया है। दुःख की हेतु तृष्णा को सुखा दिया है। दुःख-निरोधगामी आर्य अष्टांगिक मार्ग को भावित कर लिया है और दुःख-निरोध की अवस्था का स्पर्श कर लिया है यानी उसका साक्षात्कार कर लिया है, अनुभव कर लिया है।

भगवान के प्रमुख शिष्य सारिपुत्त को अरहंत अश्वजित से और मोग्गल्लान को सारिपुत्त से कारण और निवारण की इन सच्चाइयों की ही प्रथम झलक मिली, जिसने उन्हें निर्वाण का प्रथम साक्षात्कार कराया।

अश्वजित ने भगवान की शिक्षा को संक्षेप में समझाते हुए कहा -

ये धम्मा हेतुप्पभवा, तेसं हेतुं तथागतो आह।
तेसञ्च यो निरोधो, एवंवादी महासमणो॥
(महाव० ६०, सारिपुत्तमोग्गल्लानपब्बज्जाकथा)

- जिन धर्मों (अवस्थाओं) का उद्भव कारणों से होता है, उन कारणों को तथागत ने बताया है और उनके निरोध को भी। ऐसी शिक्षा देने वाले हैं महाश्रमण।

कार्य-कारण, कारण-कार्य की प्रतीत्य-समुत्पादीय शिक्षा को अनुभव पर उतारते-उतारते चार आर्यसत्यों का प्रकाशन स्वतः होने लगता है। दुःख और समुदय का प्रकाशन अनुलोम की अनुभूति से और निरोध और मार्ग का प्रकाशन प्रतिलोम की अनुभूति से। जब आठ अंग वाला आर्यमार्ग भावित होता है, तो **सति, धम्मविचय, वीरिय, पीति, पस्सद्धि, समाधि** और **उपेक्खा** - ये सातों **बोज्झङ्ग** भावित हो जाते हैं; **सद्धा, वीरिय, सति, समाधि** तथा **पञ्ञा** - ये पांच बल और पांच इंद्रियां भावित हो जाती हैं; **कायानुपस्सना, वेदनानुपस्सना, चित्तानुपस्सना** और **धम्मानुपस्सना** - ये चार **सतिपट्ठान** भावित हो जाते हैं; **संवर,**

पहान, भावना और **अनुरक्खण** – ये चार **सम्माप्पधान** भावित हो जाते हैं; और तभी **छन्द, वीरिय, चित्त** और **वीमंसा** – ये चार **इद्धिपाद** भावित हो जाते हैं।

इन्हें ही भावित करके कोई बोधिसत्त्व बुद्ध बनता है। इन्हें ही भावित करके कोई बुद्ध-श्रावक अरहंत बनता है।

इमेसं खो, भिक्खवे, चतुन्नं इद्धिपादानं भावितत्ता बहुलीकतत्ता तथागतो 'अरहं सम्मासम्बुद्धो'ति वुच्चति।

(सं० नि० ३.५.८२०, बुद्धसुत्त)

इन चार इद्धिपादों को भावित करके, बहुलीकृत करके तथागत 'अरहंत सम्यक संबुद्ध' कहलाते हैं।

यह सम्यक संबुद्ध की महान ऋद्धि है, सिद्धि है।

एवं महिद्धिको खो, भिक्खवे, तथागतो सदेवकस्स लोकस्स, एवं महेसक्खो, एवं महानुभावो।

(सं० नि० २.३.७८, सीहसुत्त)

भिक्षुओ, **देवताओं सहित सारे संसार में,** तथागत इस प्रकार महाऋद्धिवान, महाप्रतापवान और महानुभाव हैं।

यही उनकी सम्यक संबोधि है।

इसी कारण भगवान सम्यक संबुद्ध हैं।

इतिपि सो भगवा सम्मासम्बुद्धो।

इतिपि सो भगवा विज्जाचरणसम्पन्नो

इतिपि सो भगवा विज्जाचरणसम्पन्नो

वह भगवान विद्याचरण संपन्न भी हैं।

जब कोई बोधिसत्त्व अनेक जन्मों में संचय-संग्रह करते-करते अपनी तीस पारमिताओं को आवश्यक मात्रा में पूरी कर लेता है, तब अपने अंतिम जीवन में सम्यक संबुद्ध बनता है। इसके पूर्व वह सैंतीस बोधिपक्षीय धर्मों को परिपुष्ट करता है। इन सैंतीस बोधिपक्षीय धर्मों का सार चार आर्यसत्य है। इन चार आर्यसत्यों का सार आठ अंग वाला आर्यमार्ग है। इस आठ अंगवाले आर्यमार्ग का संक्षेप शील, समाधि और प्रज्ञा के तीन महत्वपूर्ण शिक्षापदों में निहित है। शील और समाधि आचरण से संबंधित हैं तथा प्रज्ञाजन्य 'विपश्यना' विद्या से।

कोई व्यक्ति शील, समाधि और प्रज्ञा में पूर्णतया प्रतिष्ठित हो जाता है, विपश्यना में पारंगत हो जाता है, तो ही विद्याचरणसंपन्न कहलाता है। विद्याचरण में भी विद्या यानी प्रज्ञामयी विपश्यना प्रमुख प्रधान है क्योंकि कोई व्यक्ति शील और समाधि संपन्न हो जाय, परंतु प्रज्ञा-विपश्यना संपन्न न हो, तो भवमुक्त अवस्था प्राप्त नहीं कर सकता। वैसे तीनों का अपना अपना महत्व है। ये तीनों शुद्धधर्मरूपी तिपाई के तीन पाये हैं। तीनों एक दूसरे को सहारा देते हैं। एक दूसरे के उपकारक हैं, पूरक हैं।

शील पालन किए बिना सम्यक समाधि का अभ्यास नहीं हो सकता। सम्यक समाधि सदा स्वानुभूतिजन्य सत्य पर आधारित होती है, समता पर अवलंबित होती है। जिसे किसी प्रकार की मिथ्या समाधि का अभ्यास करना हो यानी रागजन्य, द्वेषजन्य अथवा मोहजन्य काल्पनिक मान्यताओं के किसी आलंबन पर चित्त एकाग्र करना हो, उसके लिए शील की भूमिका अनिवार्य नहीं होती। सम्यक समाधि महज चित्त की एकाग्रता नहीं है, अपितु **कुसलचित्तस्स एकग्गता** है। शील, सदाचार का आधार होगा, तो ही चित्त कुशल होगा और ऐसे कुशल चित्त की एकाग्रता ही सम्यक समाधि

होगी। समाधि सम्यक न हो, बल्कि अविद्या के घने अंधकार से आच्छादित हो, तो प्रज्ञा जगाने का काम आरंभ ही नहीं किया जा सकता, उसे परिपुष्ट करना तो बहुत दूर की बात है। जब शील शुद्ध हो, समाधि सम्यक हो, तब प्रज्ञा सरलता से जाग उठती है और निरंतर अभ्यास द्वारा परिपुष्ट हो जाती है। प्रज्ञा जैसे जैसे पुष्ट होती जाती है, वैसे-वैसे शील का पालन सरल होता जाता है, वैसे-वैसे समाधि गहन होती जाती है। जैसे-जैसे शील और समाधि पुष्ट होते हैं, वैसे-वैसे प्रज्ञा अधिक बलवती होती जाती है। इस तरह तीनों एक दूसरे को बल प्रदान करते हैं। प्रज्ञा में अचल हुआ स्थितप्रज्ञ, शील और समाधि में भी अनायास ही अचल हो जाता है।

विपश्यना-प्रज्ञा जगने पर अपने भीतर उत्पन्न होने वाली सुखद-दुःखद संवेदनाओं का यथाभूत निरीक्षण करता हुआ साधक यह खूब जान लेता है कि -

पुब्बे हनति अत्तानं, पच्छा हनति सो परे।

(थेरगा० १३९, वसभत्थेरगाथा)

– हत्यारा पहले अपना हनन करता है, तत्पश्चात किसी अन्य का हनन करता है।

विपश्यना के अभ्यास से जब प्रज्ञा जग जाती है तब अपने भीतर संवेदनाओं को देखते-देखते साधक यह भलीभांति समझ जाता है कि हत्या करने के पहले मन में क्रोध उत्पन्न करना होता है। क्रोध के उत्पन्न होते ही प्रकृति दंड देने लगती है और बेचैनी बढ़ती है। इस बेचैनी के कारण अविद्या के अंधकार में क्रोध और बढ़ता है, तो बेचैनी और भी बढ़ती है। इस प्रकार वह अपनी सुख-शांति का हनन करना शुरू कर देता है। किसी की हत्या तो पीछे करता है, पहले अपनी सुख-शांति की हत्या कर लेता है।

किसी भी शील को भंग करने के पहले यही क्रम आरंभ हो जाता है; मन में लोभ, वासना, ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार अथवा अन्य कोई-न-कोई विकार उत्पन्न होता है। विकार उत्पन्न होते ही पहले अपनी सुख-शांति भंग होने लगती है। किसी अन्य की सुख-शांति तो इसके पश्चात ही भंग होती है। विपश्यना द्वारा इस सच्चाई को अनुभव के स्तर पर बार बार

देखते-देखते ऐसी अवस्था पर पहुँच जाता है, जहां पहुँच कर कोई शील भंग कर ही नहीं पाता। शील तोड़ने के पूर्व भीतर कोई न कोई विकारजन्य संवेदना उत्पन्न होती है। उत्पन्न होते ही तत्काल होश जागता है कि कहीं मेरा शील खंडित न हो जाय। यों अपने शील की शुद्धि को देखते-देखते और अपने भीतर उठी हुई संवेदना को देखते-देखते उस संवेदना को शांत कर लेता है। शील भंग नहीं हो पाता। एक उदाहरण से समझें।

जैसे ही मन में क्रोध जगता है उसके साथ-साथ शरीर में एक दुःखद संवेदना जागती है। विपश्यना द्वारा प्रज्ञा में स्थित हुआ साधक उस संवेदना को तटस्थ भाव से देखते-देखते जागे हुए क्रोध का शमन कर लेता है। इस प्रकार क्रोधजन्य वाचिक और कायिक दुष्कर्म करने से बच जाता है।

यों यह प्रज्ञाजन्य सम्यक अनुपश्यना शील को अखंडित रखने में मदद करती है।

शुद्ध धर्मपथ के पथिक को पहले सामान्य शील का ही आधार लेना होता है, क्योंकि शील धर्म की नींव है, बुनियाद है। आगे चल कर शील के बल पर समाधि और समाधि के बल पर शील पुष्ट होते हैं। शील के बल पर प्रज्ञा और प्रज्ञा के बल पर शील पुष्ट होते हैं। अपने भीतर की सच्चाई को प्रज्ञा द्वारा पुनः पुनः देखते-देखते शील स्वभावतः संपुष्ट होता जाता है।

अरियकन्तेहि सीलेहि समन्नागतो होति, अखण्डेहि अच्छिद्देहि असबलेहि अकम्मासेहि भुजिस्सेहि विञ्ञुप्पसत्थेहि अपरामट्ठेहि समाधिसंवत्तनिकेहि।

(सं० नि० ३.५.९९७, चक्कवत्तिराजसुत्त)

– वह ऐसे शील-सदाचार से संपन्न हो जाता है, जो **अरियकन्त** हैं यानी आर्यों को प्रिय हैं, जो अखंड हैं, अछिद्र हैं, बेदाग हैं, निष्कलुष हैं, सेवनीय हैं, विज्ञों द्वारा प्रशंसित हैं, जिनके प्रति परामर्श यानी आसक्ति नहीं होती और जो समाधि की ओर ले जाने वाले हैं।

किसी भी शील के प्रति आसक्ति जग जाय, तो साधक केवल उसे ही अंतियों की ओर खींचने में अपना श्रेय समझने लगता है। धर्म के अन्य अंगों की साधना छूट जाती है। इसी माने में शुद्ध शील को **अपरामट्ठेहि** कहा है।

अखंडित शील पालन करता है, तो चित्त की बेचैनियां दूर होती हैं। चित्त स्वभावतः प्रमुदित होता है। और -

पमुदितस्स पीति जायति - प्रमुदित होने से प्रीति यानी प्रसन्नता जागती है,

पीतिमनस्स कायो पस्सम्भति - प्रसन्नमन होने से काया प्रश्रब्ध यानी शांत-स्थिर होती है,

पस्सद्धकायो सुखं विहरति - शांत-स्थिर काया का धनी सुख से विहार करता है,

सुखिनो चित्तं समाधियति - सुखी का चित्त समाधिस्थ होता है।

(सं० नि० २.४.९७, पमादविहारीसुत्त)

शील और समाधि में पुष्ट हुआ व्यक्ति बड़ा संयत जीवन जीता है। वह खूब समझ जाता है कि सारे काम सजग होकर करने चाहिए।

पच्चवेक्खित्वा पच्चवेक्खित्वा कायेन कम्मं कत्तब्बं।

- देखते-समझते, देखते-समझते काया के कर्म करने चाहिए।

पच्चवेक्खित्वा पच्चवेक्खित्वा वाचाय कम्मं कत्तब्बं।

- देखते-समझते, देखते-समझते वाणी के कर्म करने चाहिए।

पच्चवेक्खित्वा पच्चवेक्खित्वा मनसा कम्मं कत्तब्बं।

(म० नि० २.१०९, अम्बलट्ठिकराहुलोवादसुत्त)

- देखते-समझते, देखते-समझते मन के कर्म करने चाहिए।

वह यह भी भली-भांति समझ जाता है कि -

चक्खुना संवरो साधु, साधु सोतेन संवरो।

- संयम आंख का भला है, भला है कान का संयम।

घानेन संवरो साधु, साधु जिव्हाय संवरो॥

- संयम नाक का भला है, भला है जीभ का संयम।

कायेन संवरो साधु, साधु वाचाय संवरो।

- संयम काया का भला है, भला है वाणी का संयम।

मनसा संवरो साधु, साधु सब्बत्थ संवरो। (ध० प० ३६०-३६१, भिक्खुवग्ग)

- संयम मन का भला है, भला है सर्वत्र संयम।

उसके लिये यह भी स्पष्ट हो जाता है -

यतं चरे यतं तिट्ठे, यतं अच्छे यतं सये,

- संयत होकर चले, संयत खड़ा हो, संयत बैठे और संयत लेटे,

यतं समिञ्जये भिक्खु, यतमेनं पसारये। (इतिवु० १११, सम्पन्नसीलसुत्त)

- भिक्षु (अपने अंगों को) संयत हो कर सिकोड़े और संयत हो कर पसारे।

इस प्रकार अपने कायिक, वाचिक और मानसिक कर्मों के प्रति सजग रहने वाला संयत व्यक्ति संयत चित्त हो कर प्रज्ञा के क्षेत्र में कदम रखने लगता है। जब चित्त समाहित होता है, तब -

समाहिते चित्ते धम्मा पातुभवन्ति। (सं० नि० २.४.९७, पमादविहारीसुत्त)

- समाहित चित्त में धर्मों का प्रादुर्भाव होता है यानी धर्म संबंधी सारी बातें स्पष्टतया प्रकट होती हैं।

आंख, कान, नाक, जीभ, काया, वाणी और मन पर -

सब्बत्थ संवुतो भिक्खु, सब्बदुक्खा पमुच्चति, (ध० प० ३६१, भिक्खुवग्ग)

- सर्वत्र संयम रखने वाला भिक्षु सारे दुःखों से मुक्त हो जाता है,

क्योंकि उसके लिए शील और समाधि के संपुष्ट आधार पर प्रज्ञाजन्य विपश्यना का अभ्यास आरंभ कर देने का ही शुभ आदेश है।

उद्धं तिरियं अपाचीनं, यावता जगतो गति।

- ऊपर, (नीचे), आड़े (तिरछे), (सामने), पीछे जहां तक संसार की गति है, (वहां तक) -

समवेक्खिता च धम्मानं, खन्धानं उदयब्बयं॥

(इतिवु० १११, सम्पन्नसीलसुत्त)

– वह (पंच) स्कंधों और उनके उदय-व्यय (धर्म) की संपश्यना करता है यानी पांचों स्कंधों के उदय-व्यय स्वभाव को यथाभूत जानने लगता है।

यह तभी होता है जबकि साधक शील के आधार पर ध्यानस्थ होता है, समाधिस्थ होता है।

पटिसल्लीनो, भिक्खवे, भिक्खु यथाभूतं पजानाति।

(सं० नि० ३.५.१०७२, पटिसल्लानसुत्त)

– भिक्षुओ, भिक्षु ध्यानस्थ होकर जो जैसा है, उसे ठीक वैसे ही यथाभूत जान लेता है।

इसीलिए कहा गया है –

पटिसल्लानारामा, भिक्खवे, विहरथ पटिसल्लानरता, अज्झत्तं चेतोसमथमनुयुत्ता, अनिराकतज्झाना, विपस्सनाय समन्नागता, ब्रूहेता सुञ्ञागारानं।

(इतिवु० ४५, पटिसल्लानसुत्त)

– भिक्षुओ, एकांत ध्यान में प्रीति उत्पन्न करते हुए, एकांत ध्यान में रत रहते हुए विहार करो। अपने भीतर चित्त को शमन करने में लगे रहो। निरंतर ध्यानयुक्त रहो, विपश्यनायुक्त रहो, एकांत शून्यागार के निवासों को बढ़ाओ।

एकांत ध्यान की निरंतरता जितनी बढ़ती है, विपश्यना उतनी ही पुष्ट होती है। यथाभूत ज्ञान वाली प्रज्ञा की निरंतरता जितनी पुष्ट होती है, साधक उतना ही स्थितप्रज्ञ होता है।

समाधिं, भिक्खवे, भावेथ। समाहितो, भिक्खवे, भिक्खु यथाभूतं पजानाति।

– भिक्षुओ, समाधि का अभ्यास करो। समाधिस्थ भिक्षु (प्रज्ञापूर्वक) यथाभूत जानने लगता है।

किञ्च यथाभूतं पजानाति – (प्रज्ञापूर्वक) यथाभूत क्या जानने लगता है?

रूपस्स समुदयञ्च अत्थङ्गमञ्च, वेदनाय समुदयञ्च अत्थङ्गमञ्च, सञ्ञाय समुदयञ्च अत्थङ्गमञ्च, सङ्खारानं समुदयञ्च अत्थङ्गमञ्च, विञ्ञाणस्स समुदयञ्च अत्थङ्गमञ्च।

(सं० नि० २.३.५, समाधिसुत्त)

– रूप के उदय और अस्त होने को, वेदना के उदय और अस्त होने को, संज्ञा के उदय और अस्त होने को, संस्कारों के उदय और अस्त होने को तथा विज्ञान के उदय और अस्त होने को।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शील और समाधि का, समाधि और प्रज्ञा का परस्पर गहरा संबंध है।

भगवान इस तथ्य को बार बार समझाते थे –

इति सीलं, इति समाधि, इति पञ्ञा।

– यह शील है, यह समाधि है, यह प्रज्ञा है।

सीलपरिभावितो समाधि महप्फलो होति महानिसंसो।

– शील परिभावित हुए की समाधि महान फलदायिनी होती है, महान लाभदायिनी होती है।

समाधिपरिभाविता पञ्ञा महप्फला होति महानिसंसा।

– समाधि परिभावित हुए की प्रज्ञा महान फलदायिनी होती है, महान लाभदायिनी होती है।

पञ्ञापरिभावितं चित्तं सम्मदेव आसवेहि विमुच्चति।

(दी० नि० २.१५९, महापरिनिब्बानसुत्त)

– प्रज्ञा परिभावित हुए का चित्त आस्रवों से भली भांति विमुक्त हो जाता है।

यों प्रज्ञाजन्य विद्या से मुक्ति की उपलब्धि होती है। इसी कारण प्रज्ञा की महानता है। विद्या प्रज्ञा से ही प्राप्त होती है।

पञ्ञा सुतविनिच्छिनी, पञ्ञा कित्तिसिलोकवड्ढनी।

– प्रज्ञा श्रुतज्ञान की संशोधिका है, प्रज्ञा कीर्तिवर्द्धनी है, यशवर्द्धनी है।

पञ्ञासहितो नरो इध, अपि दुक्खेसु सुखानि विन्दति॥

(थेरगा० ५५१, महाकप्पिनत्थेरगाथा)

– यहां जो व्यक्ति प्रज्ञावान है, वह दु:ख में भी सुख अनुभव करता है।

इसीलिए कहा गया है –

तस्मा हि पञ्ञाव धनेन सेय्या। (थेरगा० ७८४, रट्ठपालत्थेरगाथा)

– इसलिए धन की अपेक्षा प्रज्ञा ही श्रेष्ठ है।

सीलमेव इध अग्गं, पञ्ञवा पन उत्तमो।

– यहां (इस धर्म मार्ग पर) शील ही अग्र है यद्यपि प्रज्ञावान उत्तम है।

मनुस्सेसु च देवेसु, सीलपञ्ञाणतो जयन्ति। (थेरगा० ६१९, सीलवत्थेरगाथा)

– वास्वविकता यह है कि मनुष्यों और देवताओं में शील और प्रज्ञा से ही (वास्तविक) विजय होती है।

शील और प्रज्ञा एक दूसरे के उपकारक हैं।

सेय्यथापि ब्राह्मण, हत्थेन वा हत्थं धोवेय्य, पादेन वा पादं धोवेय्य।

– जैसे कि हे ब्राह्मण, हाथ से रगड़ कर हाथ धोये, पांव से रगड़ कर पांव धोए –

सीलपरिधोता हि, ब्राह्मण, पञ्ञा, पञ्ञापरिधोतं सीलं।

– ऐसे ही ब्राह्मण, शील से धोयी गयी प्रज्ञा है, प्रज्ञा से धोया गया शील है।

यत्थ सीलं तत्थ पञ्ञा, यत्थ पञ्ञा तत्थ सीलं।

– जहां शील है, वहां प्रज्ञा है; जहां प्रज्ञा है, वहां शील है।

सीलवतो पञ्ञा, पञ्ञावतो सीलं।

– शीलवान को प्रज्ञा प्राप्त होती है और प्रज्ञावान को शील।

लेकिन फिर भी –

सीलपञ्ञाणञ्च पन लोकस्मिं अग्गमक्खायति,

(दी० नि० १.३१७, सोणदण्डसुत्त)

– संसार में शील प्रज्ञा का अगुआ कहलाता है,

क्योंकि पहले शील धारण करना होता है और फिर प्रज्ञा।

जैसे शील और प्रज्ञा एक दूसरे के उपकारक हैं, वैसे ही समाधि और प्रज्ञा भी।

एक ओर तो यह सत्य है कि

समाहितो, भिक्खवे, भिक्खु यथाभूतं पजानाति।

(सं० नि० २.३.५, समाधिसुत्त)

– भिक्षुओ, समाधिस्थ भिक्षु यथाभूत को प्रज्ञापूर्वक जानता है।

दूसरी ओर यह भी कि

जैसे आंधी से उठी हुई धूल वर्षा से शांत हो जाती है,

एवं सम्मन्ति सङ्कप्पा, यदा पञ्ञाय पस्सति।

(थेरगा० ६७५, अञ्ञासिकोण्डञ्ञत्थेरगाथा)

– वैसे ही प्रज्ञा से देखने पर मन के संकल्प-विकल्प शांत हो जाते हैं।

यों एक दूसरे के उपकारक शील, समाधि और प्रज्ञा साधक को मुक्त अवस्था तक पहुँचा देते हैं। इसी सत्य को व्यक्त करता हुआ एक विमुक्त साधक कहता है –

सीलक्खन्धे पतिट्ठाय, सतिं पञ्ञञ्च भावयं।
पापुणिं अनुपुब्बेन, सब्बसंयोजनक्खयं॥

(थेरगा० ८६५, काळिगोधापुत्तभद्दियत्थेरगाथा)

– शील-स्कंध में प्रतिष्ठित हो, स्मृति (सजगता) और प्रज्ञा की भावना करके मैंने क्रमश: सभी बंधनों से मुक्ति प्राप्त कर ली।

इसीलिए कहा गया –

सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो, चित्तं पञ्ञञ्च भावयं।
आतापी निपको भिक्खु, सो इमं विजटये जटं॥

(सं० नि० १.१.२३, जटासुत्त)

– शील पर प्रतिष्ठित सप्रज्ञ व्यक्ति समाधि और प्रज्ञा को बढ़ाता हुआ, परिपक्व तपस्वी भिक्षु इस जटा को सुलझा लेता है।

यों भगवान बुद्ध के अनेकानेक अनुगामी शील, समाधि और प्रज्ञा में पुष्ट होकर भवबंधन की जटाओं से सर्वथा विमुक्त हो गये। भगवान स्वयं भी इसी प्रकार विमुक्त हुए।

मनुस्सभूतं सम्बुद्धं, अत्तदन्तं समाहितं।

– मनुष्य के रूप में सम्यक संबुद्ध आत्म-दमन से युक्त हैं, समाहित हैं।

इरियमानं ब्रह्मपथे, चित्तस्सुपसमे रतं॥

– वे शुद्ध, श्रेष्ठ धर्म-पथ पर आरूढ़ हैं, चित्त की शांति में निरत हैं।

यं मनुस्सा नमस्सन्ति, सब्बधम्मान पारगुं।

– वे सब धर्मों में पारंगत हैं, (इसलिए) मनुष्य उनको नमन करते हैं।

मनुष्य ही नहीं,

देवापि तं नमस्सन्ति – देवता भी उन्हें नमन करते हैं।

वे सभी प्राणियों में उसी प्रकार महान हैं, जैसे सभी पर्वतों में हिमालय, सभी चौपायों में हस्तिनाग। इसीलिए वे मनुष्यों में नाग यानी हस्ति माने जाते हैं। भगवान सचमुच नर-नाग हैं।

सब्बेसं नागनामानं, सच्चनामो अनुत्तरो।

– नाग के नाम से प्रसिद्ध सभी प्राणियों में अनुत्तर (बुद्ध) ही यथार्थ नामधारी हैं।

भगवान के शिष्य उदायी उन नर-नाग भगवान का गुणगान गाते हुए कहते हैं –

वे नाग निष्पाप हैं। शील और अहिंसा उनके दो पांव हैं। स्मृति और जागरूकता उनके अन्य दो पांव हैं। प्रज्ञा उनका सिर है। वे ध्यान और निर्वाण में रत हैं। अपने भीतर सुसमाहित हैं। इसी कारण –

गच्छं समाहितो नागो, ठितो नागो समाहितो,

– नाग चलते हुए समाहित हैं, नाग खड़े हुए भी समाहित हैं,

सयं समाहितो नागो, निसिन्नोपि समाहितो,

– नाग लेटे(सोये) हुए समाहित हैं, नाग बैठे भी समाहित हैं,

सब्बत्थ संवुतो नागो, एसा नागस्स सम्पदा।

(थेरगा० ६८९-६९०,६९२,६९६,६९७, उदायित्थेरगाथा)

– नाग सर्वत्र संयमित हैं, यही नाग की (धर्म) संपदा है।

शील, समाधि, प्रज्ञा ही नाग की अनमोल संपदा है। विद्या और चरण ही सम्यक संबुद्ध की अनमोल सम्यक संबोधि है। प्रज्ञा-संपन्न ही विद्या-संपन्न है। शील, समाधि-संपन्न होना ही चक्षु-संपन्न होना है।

विद्या-संपन्न

विद्या का एक अर्थ **इद्धि** यानी ऋद्धि यानी सिद्धि भी है, जिसे प्राप्त कर बुद्ध सही माने में सिद्ध पुरुष होते हैं।

ये आठ विद्याएं अर्थात सिद्धियां हैं;–

(१) विपश्यना ज्ञान विद्या –

विपश्यना यानी विशेष रूप से देखने की विद्या। इससे नाम और रूप को अलग-अलग करके देख-जान लिया जाता है, एक दूसरे का पारस्परिक संबंध पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है, जिससे कि ज्ञान-दर्शन विशुद्ध हो जाता है।

(२) मनोमय ऋद्धि ज्ञान विद्या –

इससे अपने इस शरीर से भिन्न, सभी अंग-प्रत्यंग और इंद्रियों से सर्वांग संपूर्ण एक अन्य मनोमय भौतिक शरीर का निर्माण किया जा सकता है।

(३) विविध ऋद्धि ज्ञान विद्या -

इससे एक से अनेक हो जाना, अनेक से फिर एक हो जाना; अंतर्धान होना, प्रकट होना; दीवार-प्राकार, पर्वत आदि को बिना छुए उनके आर-पार निकल जाना, जैसे शून्य में से निकल गया हो; पृथ्वी में ऐसे गोते लगाना, जैसे जल में लगा रहा हो; जल की सतह पर ऐसे चलना, जैसे ठोस धरती पर चल रहा हो; आकाश में पालथी मार कर ऐसे उड़ना, जैसे कोई पक्षी उड़ रहा हो; सूर्य और चांद को अपने हाथ से छूना, थपथपाना; सशरीर ब्रह्मलोक की यात्रा करना; आदि अनेक ऋद्धियां होती हैं।

(४) दिव्य-श्रोत ज्ञान विद्या -

इससे मनुष्यों और देवों के, समीप और दूर के बोल सुने जा सकते हैं।

(५) पर-चित्त ज्ञान विद्या -

इससे अन्य प्राणियों के चित्त और चैतसिक अवस्थाओं को अपने चित्त से जाना जा सकता है।

(६) पूर्व-जाति-स्मरण ज्ञान विद्या -

इससे पचास, सौ, हजार, लाख ही नहीं प्रत्युत अनेक कल्पों के अनगिनत जन्मों की घटनाओं का स्मरण किया जा सकता है।

(७) दिव्य-चक्षु ज्ञान विद्या -

इससे यह देखा जा सकता है कि पूर्व काल के किन कर्मों के कारण कौन प्राणी कैसी सुगति या दुर्गति को प्राप्त हुआ है, कोई व्यक्ति किन कर्मों के कारण कहां, कैसी स्थिति में जन्म ले रहा है?

(८) आस्रवक्षय ज्ञान विद्या -

इससे यह ज्ञान दर्शन हो जाता है कि -

(क) यह आस्रव है यानी चित्त का मैल है,

(ख) यह इसकी उत्पत्ति है,

(ग) यह इसका निवारण है, और

(घ) यह इसके निवारण का उपाय है।

इसे देखते-देखते चित्त की नितांत आस्रव-विमुक्त अवस्था साक्षात कर ली जाती है।

इन आठों ऋद्धि-विद्याओं में पहली अर्थात विपश्यना-ज्ञान-विद्या और आठवीं अर्थात आस्रवक्षय-ज्ञान-विद्या अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि पहली के अभ्यास द्वारा आठवीं विद्या सिद्ध होती है, तभी कोई व्यक्ति भव-संसरण से सर्वथा मुक्त होता है। शेष सारे अभिज्ञान, सारी ऋद्धियां समाधिजन्य हैं। अतः बिना विमुक्त हुए व्यक्तियों को भी उपलब्ध हो सकती हैं, भले कुछ कम मात्रा में उपलब्ध हों। किसी सम्यक संबुद्ध का यह अभिज्ञान बल औरों की तुलना में कहीं अधिक होता है। सम्यक संबुद्ध की पारमी संख्या में तिगुनी और परिमाण में कई गुना अधिक होती है। इसी कारण उनकी ये अभिज्ञान विद्याएं बृहत्तम होती हैं।

ये आठों अभिज्ञान किसी सम्यक संबुद्ध को विद्या-संपन्न बनाते हैं।

चरणसंपन्न

चरण पंद्रह हैं -

(१) शील में पूर्णतया प्रतिष्ठित होना,

(२) इंद्रियों को संयमित करना,

(३) भोजन में मात्रज्ञ होना,

(४) जागरणशील होना,

(५) से (११) श्रद्धा, ह्री, अपत्रप से युक्त होना, बहुश्रुत, वीर्यवान, स्मृतिवान, प्रज्ञावान होना,

(१२) से (१५) चारों रूपावचर ध्यानों में परिपक्व होना।

इन पंद्रह धर्मों को धारण करने वाला व्यक्ति शील, समाधि और प्रज्ञा के क्षेत्र में कदम-कदम विचरण करता हुआ निर्वाण की ओर बढ़ता है। इसलिए ये चरण कहलाते हैं। इनमें पुष्ट होने वाला व्यक्ति चरण-संपन्न कहलाता है।

चरण वस्तुतः मुक्ति-पथ के पथिक के चरण हैं और विद्या है उसकी आँखें। दोनों की संपन्नता उसकी सम्यक संबोधि को परिपूर्णता तक पहुँचाती है, उसे सभी दुःखों से विमुक्त कराती है।

यं वत्तं परिपूरेन्तो, सीलम्पि परिपूरति।

– जो व्रत को परिपूर्ण करता हुआ शील को परिपूर्ण करता है।

विसुद्धसीलो सपञ्ञो, चित्तेकग्गम्पि विन्दति॥

– (वह) विशुद्ध शीलवान, सप्रज्ञ व्यक्ति चित्त-एकाग्रता अनुभव करता है।

अविक्खित्तचित्तो एकग्गो, सम्मा धम्मं विपस्सति।

– अविक्षिप्त, एकाग्रचित्त हुआ व्यक्ति सम्यक प्रकार से धर्म की विपश्यना करता है।

सम्पस्समानो सद्धम्मं, दुक्खा सो परिमुच्चति॥

(चूळव० ३८२, अन्तेवासिकवत्तकथा, तस्सुद्दानं)

– सम्यक रूप से सद्धर्म की विपश्यना करता हुआ वह दुःखों से पूर्णतया मुक्त हो जाता है।

दुःखों से नितांत विमुक्त हुए तथागत की विद्यासंपदा उन्हें सर्वज्ञता से परिपूर्ण करती है और चरणसंपदा महाकरुणा से। सर्वज्ञ होने के कारण तथागत लोगों की वास्तविक स्थिति को, उनके गुण दोषों को भली-भांति जान लेते हैं और महाकारुणिक होने के कारण उन्हें दोषों से दूर होने और गुणों में परिपुष्ट होकर मुक्त होने का मार्ग ज्ञापित करते हैं।

भगवान की महती करुणा

भगवान दीपंकर के चरणों में बैठ कर सम्यक संबुद्ध बनने का शिव संकल्प करते हुए, भव-भ्रमण में पड़े हुए दुखियारे प्राणियों के प्रति तपस्वी सुमेध के मन में जो करुणा की गंगोत्री जागी, वह अनेकानेक जन्मों में संवर्द्धित होती हुई अब बोधिसत्त्व के अंतिम जीवन में उनके

विद्याचरणसंपन्न सम्यक संबुद्ध हो जाने पर त्रिलोक-ताप-हारिणी विशाल धर्म-गंगा बन कर वह चली जो कि धर्मविरोधी अंधमान्यताओं में जकड़े हुए अनेक लोगों को उबारने का और उनके दुःखमुक्त हो सकने का कारण बनी।

चातुर्वर्णी शुद्धि

भगवान बुद्ध को लोक कल्याण के लिए शील, समाधि और प्रज्ञाजन्य परिशुद्ध, परिपूर्ण, सर्वहितकारी धर्म के व्यावहारिक पक्ष की पुनर्स्थापना करनी थी क्योंकि वह विकृत होते-होते प्रायः विलुप्त हो चुका था। विकृतियों के अनेक कारणों में से एक बड़ा कारण था जन्म पर आधारित चातुर्वर्णी व्यवस्था, जिसकी विषैली जकड़न ने समाज को धर्म से च्युत कर दिया था। लोग जाति और वर्ण को महत्त्व देने लगे थे न कि कर्म और धर्म को। अतः चातुर्वर्णी विशुद्धि आवश्यक थी ताकि व्यष्टि का भी कल्याण हो और समष्टि का भी। अनेक भूले-भटके लोग अंधी मान्यताओं के कारण, अज्ञानताभरी मोह-मूढ़ता के कारण अपनी ही घोर हानि कर रहे थे।

जातित्थद्धो धनत्थद्धो, गोत्तत्थद्धो च यो नरो।

– जाति, धन या गोत्र के नशे में धुत्त हुआ व्यक्ति –

सञ्ञातिं अतिमञ्ञेति, तं पराभवतो मुखं॥ (सु० नि० १०४, पराभवसुत्त)

– अभिमानवश अपनी ही मनुष्य जाति के अन्य लोगों को अपमानित करता है। इस प्रकार वह स्वयं अपने अधःपतन का कारण बनता है।

ऐसी मोह-मूढ़ता आज भी है और उस समय के भारत में भी बहुत प्रबल थी। ऐसे अनेक लोग थे जो जाति, गोत्र और धन के नशे में धुत्त रहते थे। ऐसे व्यक्ति अपने ही अहंकारजन्य अज्ञान के कारण विद्या और आचरणरूपी सद्धर्म को समझ ही नहीं पाते थे, उसे धारण करना तो बहुत दूर की बात रही। ऐसे व्यक्ति सद्धर्म के सत्फलों से वंचित रह कर अपनी हानि तो करते ही थे, समाज और राष्ट्र की भी बड़ी हानि करते थे। समाज के किसी एक विशाल वर्ग के लोगों को नीचा मान कर उनका अपमान

करते थे, उनका शोषण करते थे। समाज की व्यवस्था को इस प्रकार जकड़ देने का दुष्कर्म करते थे जिससे ये दुखियारे दलित, पीढ़ी-दर-पीढ़ी दलित ही बने रहें और अन्यों की सेवा करने में ही संतोष मानते रहें, कभी अपना सिर न उठा सकें, समाज में कभी ऊंचे न उठ सकें। समाज की इस सड़ी-गली और दूषित वर्ण व्यवस्था पर भगवान ने एक करुण शल्यकर्ता (सर्जन) की भांति नश्तर लगाया। समाज में कोढ़ की तरह फैले हुए इस घृणित रोग को एक करुण चिकित्सक की भांति दूर करने का प्रभूत प्रयत्न किया। समाज को स्वस्थ करने के लिए इस दु:खदायी कैंसर को काट कर शुद्ध-धर्म का मैत्रीपूर्ण मलहम लगाने का अपूर्व श्रम किया।

तथागत की करुणा समाज के चारों वर्णों के लोगों पर समान रूप से बरसती थी। ब्राह्मण और क्षत्रिय अपने को उच्च वर्ण वाले मान कर जात्यभिमान से भर उठे थे। दोनों में परस्पर एक दूसरे से बड़े होने की स्पर्धा चल रही थी। सदियों से चली आ रही समाज की इस दूषित व्यवस्था के कारण शूद्र और अंत्यज अत्यंत हीनभाव से ग्रस्त हो चुके थे। वे कभी सोच भी नहीं सकते थे कि उनका उद्धार हो सकता है और वे यहीं इसी जीवन में सही माने में ब्राह्मण बन सकते हैं। तथागत ने अत्यंत करुणापूर्वक चातुर्वर्णी शुद्धि करने का बीड़ा उठाया। उन्हें ऐसे समाज का गठन करना था जिसमें जन्म के अथवा वर्ण के कारण न कोई ऊंचा हो, न नीचा। ऐसा धर्म-समन्वित समाज हो जिसमें कर्म से ही कोई ऊंचा हो और कर्म से ही नीचा। जो आज कर्म से नीचा है, उसे भी पूरा-पूरा अधिकार और पूरा-पूरा अवकाश हो कि वह यहीं इसी जीवन में कर्म सुधार कर ऊंचा बन जाय, समाज में पूज्य बन जाय। इस प्रकार न किसी में मिथ्या अहंभाव जागे और न अन्य में हीनभाव। पुरातन युग के ऐसे सर्वहितकारी शुद्ध, सद्धर्म को उन्हें पुनर्जीवित करना था। सारे समाज का पुनरुद्धार करना था और अपरिमित करुणाभरे चित्त से उन्होंने जीवन भर यही किया।

ब्राह्मण

अनेक ब्राह्मणों में यह मिथ्या गर्व समा गया था कि -

ब्राह्मणोव सेट्ठो वण्णो, हीनो अञ्ञो वण्णो।

- ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण है, अन्य सभी वर्ण हीन हैं।

और यह इसलिए कि -

ब्राह्मणोव सुक्को वण्णो, कण्हो अञ्ञो वण्णो।

(म० नि० २.४०२, अस्सलायनसुत्त)

- ब्राह्मण शुक्लवर्णी हैं, अन्य सभी कृष्णवर्णी हैं।

उन्हें अपनी रक्त-शुद्धि पर बड़ा गर्व था। इस मान्यता का बड़ा अभिमान था कि -

इध, भो गोतम, ब्राह्मणो उभतो सुजातो होति मातितो च पितितो च।

(दी० नि० १.३११, सोणदण्डसुत्त)

- हे गौतम, ब्राह्मण माता और पिता दोनों ओर से सुजात हैं।

संसुद्धगहणिको याव सत्तमा पितामहयुगा, अक्खित्तो अनुपक्कुट्ठो जातिवादेन।

(दी० नि० १.३०३, सोणदण्डसुत्त)

- जातिवाद के नियमों के अनुसार वह सात पीढ़ी तक संशुद्ध है, अक्षत है, निर्दोष है।

रक्त-शुद्धि का यह अहंकार मिथ्या है। इसे बुद्ध-पूर्व के कुछ एक अन्य ब्राह्मण आचार्य भी समझने लगे थे और वे अपने ब्राह्मण बंधुओं को इस मिथ्या-दृष्टि से मुक्त किया चाहते थे। उनमें से एक था - ऋषि असित देवल।

ऋषि असित देवल

वह उन दिनों के समाज का बहुत प्रसिद्ध और पूज्य ब्राह्मण ऋषि था। भगवान बुद्ध के पिता शुद्धोदन का पुरोहित भी था। वह समस्त ब्राह्मण शास्त्रों में ही पारंगत नहीं था, बल्कि आठों ध्यानों में पुष्ट होकर अनेक अभिज्ञानों (सिद्धियों) का धनी भी था। वह एक बार सात ब्राह्मण ऋषियों की इसी मिथ्या दृष्टि को दूर करने के लिए उद्यत हुआ। ऋषि असित देवल

करते थे, उनका शोषण करते थे। समाज की व्यवस्था को इस प्रकार जकड़ देने का दुष्कर्म करते थे जिससे ये दुखियारे दलित, पीढ़ी-दर-पीढ़ी दलित ही बने रहें और अन्यों की सेवा करने में ही संतोष मानते रहें, कभी अपना सिर न उठा सकें, समाज में कभी ऊंचे न उठ सकें। समाज की इस सड़ी-गली और दूषित वर्ण व्यवस्था पर भगवान ने एक करुण शल्यकर्ता (सर्जन) की भांति नश्तर लगाया। समाज में कोढ़ की तरह फैले हुए इस घृणित रोग को एक करुण चिकित्सक की भांति दूर करने का प्रभूत प्रयत्न किया। समाज को स्वस्थ करने के लिए इस दु:खदायी कैंसर को काट कर शुद्ध-धर्म का मैत्रीपूर्ण मलहम लगाने का अपूर्व श्रम किया।

तथागत की करुणा समाज के चारों वर्णों के लोगों पर समान रूप से बरसती थी। ब्राह्मण और क्षत्रिय अपने को उच्च वर्ण वाले मान कर जात्यभिमान से भर उठे थे। दोनों में परस्पर एक दूसरे से बड़े होने की स्पर्धा चल रही थी। सदियों से चली आ रही समाज की इस दूषित व्यवस्था के कारण शूद्र और अंत्यज अत्यंत हीनभाव से ग्रस्त हो चुके थे। वे कभी सोच भी नहीं सकते थे कि उनका उद्धार हो सकता है और वे यहीं इसी जीवन में सही माने में ब्राह्मण बन सकते हैं। तथागत ने अत्यंत करुणापूर्वक चातुर्वर्णी शुद्धि करने का बीड़ा उठाया। उन्हें ऐसे समाज का गठन करना था जिसमें जन्म के अथवा वर्ण के कारण न कोई ऊंचा हो, न नीचा। ऐसा धर्म-समन्वित समाज हो जिसमें कर्म से ही कोई ऊंचा हो और कर्म से ही नीचा। जो आज कर्म से नीचा है, उसे भी पूरा-पूरा अधिकार और पूरा-पूरा अवकाश हो कि वह यहीं इसी जीवन में कर्म सुधार कर ऊंचा बन जाय, समाज में पूज्य बन जाय। इस प्रकार न किसी में मिथ्या अहंभाव जागे और न अन्य में हीनभाव। पुरातन युग के ऐसे सर्वहितकारी शुद्ध, सद्धर्म को उन्हें पुनर्जीवित करना था। सारे समाज का पुनरुद्धार करना था और अपरिमित करुणाभरे चित्त से उन्होंने जीवन भर यही किया।

ब्राह्मण

अनेक ब्राह्मणों में यह मिथ्या गर्व समा गया था कि–

ब्राह्मणोव सेट्ठो वण्णो, हीनो अञ्ञो वण्णो।

– ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण है, अन्य सभी वर्ण हीन हैं।

और वह इसलिए कि–

ब्राह्मणोव सुक्को वण्णो, कण्हो अञ्ञो वण्णो।

(म० नि० २.४०२, अस्सलायनसुत्त)

– ब्राह्मण शुक्लवर्णी हैं, अन्य सभी कृष्णवर्णी हैं।

उन्हें अपनी रक्त-शुद्धि पर बड़ा गर्व था। इस मान्यता का बड़ा अभिमान था कि–

इध, भो गोतम, ब्राह्मणो उभतो सुजातो होति मातितो च पितितो च।

(दी० नि० १.३११, सोणदण्डसुत्त)

– हे गौतम, ब्राह्मण माता और पिता दोनों ओर से सुजात हैं।

संसुद्धगहणिको याव सत्तमा पितामहयुगा, अक्खित्तो अनुपक्कुट्ठो जातिवादेन।

(दी० नि० १.३०३, सोणदण्डसुत्त)

– जातिवाद के नियमों के अनुसार वह सात पीढ़ी तक संशुद्ध है, अक्षत है, निर्दोष है।

रक्त-शुद्धि का यह अहंकार मिथ्या है। इसे बुद्ध-पूर्व के कुछ एक अन्य ब्राह्मण आचार्य भी समझने लगे थे और वे अपने ब्राह्मण बंधुओं को इस मिथ्या-दृष्टि से मुक्त किया चाहते थे। उनमें से एक था – ऋषि असित देवल।

ऋषि असित देवल

वह उन दिनों के समाज का बहुत प्रसिद्ध और पूज्य ब्राह्मण ऋषि था। भगवान बुद्ध के पिता शुद्धोदन का पुरोहित भी था। वह समस्त ब्राह्मण शास्त्रों में ही पारंगत नहीं था, बल्कि आठों ध्यानों में पुष्ट होकर अनेक अभिज्ञानों (सिद्धियों) का धनी भी था। वह एक बार सात ब्राह्मण ऋषियों की इसी मिथ्या दृष्टि को दूर करने के लिए उद्यत हुआ। ऋषि असित देवल

जटाधारी था। उसने सिर और दाढ़ी-मूंछ मुंड़वाई और मजीठ रंग का कंबल ओढ़ कर, श्रमण का भेष बना, खड़ाऊं पहन कर, हाथ में सोने-चांदी का दंड धारण किया और वहां गया, जहां वे सात ब्रह्मर्षि तप रहे थे। वह इन ऋषियों की कुटी के सामने खुले आंगन में अपनी खड़ाऊं से खट-खट आवाज करता हुआ चलने लगा और उच्च-स्वर में बोलने लगा–

हन्द, को नु खो इमे भवन्तो ब्राह्मणिसयो गता।

– अरे, ये ब्राह्मण ऋषि कहां चले गये?

सातों ब्राह्मण ऋषि अपनी-अपनी कुटिया के बाहर आये और उसका ऐसा अभद्र व्यवहार देख कर क्रुद्ध हो उसे शाप दिया–

भस्मा, वसल, होहि। भस्मा, वसल, होहि।

(म० नि० २.४१०, अस्सलायनसुत्त)

– हे वृषल (चांडाल), तू भस्म हो जा, तू भस्म हो जा।

परंतु सातों ऋषि जैसे-जैसे ऋषि असित देवल को शाप देते, वैसे-वैसे वह और अधिक सुदर्शनीय, सुरूप और सुंदर होता जाता था।

यह देख सातों ऋषि आश्चर्य-चकित हुए। उन्हें यों लगा कि उनका तप क्षीण हो गया है, निष्फल हो गया है। पहले उनके द्वारा दिया गया शाप तत्काल फलदायी हो जाता था, परंतु अब ऐसा नहीं हो रहा है, उल्टे यह शापित व्यक्ति अधिक सुंदर, सुदर्शनीय होता जा रहा है।

उन्हें दुःखी देख कर ऋषि असित देवल ने उनसे कहा – तुम्हारा तप क्षीण नहीं हुआ है, निष्फल नहीं हुआ है। तुम्हारे मन में जो द्वेष जाग उठा है, उसे दूर करो और मेरी बात सुनो।

उन्होंने अपने मन का द्वेष दूर कर मैत्रीपूर्ण चित्त से देवल ऋषि का परिचय पूछा। परिचय जान कर वे श्रद्धापूर्वक उसका अभिवादन करने लगे।

ब्रह्मर्षि असित देवल ने उनसे पूछा– "क्या तुम्हारे मन में यह मिथ्या-दृष्टि जागी है कि ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं, क्योंकि सुजात हैं, सात पीढ़ियों

तक जातिवाद के नियमों के अनुसार शुद्ध-रक्त हैं?" उन्होंने स्वीकारा कि उनकी यही मान्यता है, यही दृष्टि है।

इस पर ब्रह्मर्षि असित देवल ने उनसे पूछा– "क्या तुम दावे से कह सकते हो कि तुम्हारी माता और सात पीढ़ी तक की दादियों, नानियों ने ब्राह्मण से ही सहवास किया, अब्राह्मण से नहीं?

– "नहीं, ब्रह्मर्षि, ऐसा हम दावे के साथ कैसे कह सकते हैं?"

"तो यह बताओ कि तुम्हारी माताएं और दादियों ने जब गर्भाधान किया तब जन्म लेने के लिए उनके पेट में जो प्राणी आया, उसके बारे में क्या तुम दावे से कह सकते हो कि वह प्राणी पूर्व जन्म में ब्राह्मण ही था, अब्राह्मण नहीं?"

– "नहीं, ब्रह्मर्षि, ऐसा तो हम दावे के साथ नहीं ही कह सकते।"

"तो तुम कहां जानते हो कि तुम कौन हो? ब्राह्मण हो या अब्राह्मण?"

– "सचमुच, ब्रह्मर्षि! हम नहीं कह सकते कि हम वस्तुतः कौन हैं।"

यों बुद्धिसंगत वार्त्तालाप द्वारा ब्रह्मर्षि देवल ने उनका जात्यभिमान तोड़ा।

हो सकता है उस समय के समाज में इस प्रकार के और भी समझदार ब्राह्मण रहे हों, परंतु गलत मान्यताओं में उलझे हुए नासमझ ब्राह्मण अनेक थे। भगवान बुद्ध ने अत्यंत करुण चित्त से उन्हें सही तथ्य समझाने का भरसक प्रयत्न किया और इससे अनेक लोगों को सही धर्म-दृष्टि मिली और उनका कल्याण हुआ।

ब्रह्मा के औरस पुत्र

हम बुद्ध-वाणी में देखते हैं कि अनेक ब्राह्मणों की एक और मिथ्या मान्यता थी–

ब्राह्मणाव सुज्झन्ति, नो अब्राह्मणा – ब्राह्मण ही शुद्ध होते हैं, अब्राह्मण नहीं।

ब्राह्मणाव ब्रह्मुनो पुत्ता ओरसा, मुखतो जाता, ब्रह्मजा, ब्रह्मनिम्मिता, ब्रह्मदायादाति।

– ब्राह्मण ही ब्रह्मा के औरस पुत्र हैं, मुख से उत्पन्न, ब्रह्मा से जन्मे, ब्रह्मा द्वारा निर्मित, ब्रह्म-दायाद हैं यानी ब्रह्मा के वारिस हैं।

इस मिथ्या-दृष्टि में भटकते हुए लोगों को भगवान ने युक्तिपूर्वक समझाया –

दिस्सन्ति खो पन, अस्सलायन, ब्राह्मणानं ब्राह्मणियो उतुनियोपि, गब्भिनियोपि, विजायमानापि, पायमानापि। (म० नि० २.४०२, अस्सलायनसुत्त)

– लेकिन हे आश्वलायन, ब्राह्मणों की ब्राह्मणियां ऋतुमती भी होती हैं, गर्भिणी भी होती हैं, जनन भी करती हैं, दूध भी चुंघाती हैं, ऐसा प्रत्यक्ष देखा जाता है।

तो –

ब्राह्मणियोनिजा – ब्राह्मणी माता की योनि से उत्पन्न होते हुए ब्राह्मण – **ब्रह्मजा, ब्रह्मुनो मुखतो जाता** कैसे हुए भला?

ऐसी मिथ्या मान्यता मानने वालों के पास इसका कोई उत्तर नहीं था। और फिर यह प्रश्न भी उठना स्वाभाविक है कि चार वर्णों के निर्माण का सौभाग्य या दुर्भाग्य केवल भारत को ही क्यों मिला? संसार के रचने वाले (?) ब्रह्मा ने यहीं के कुछ लोगों पर विशेष कृपा करके उन्हें अपने मुँह में से क्यों पैदा किया? कुछ पर कम कृपा करके उन्हें अपनी भुजा में से क्यों उत्पन्न किया? कुछ पर और कम कृपा करके उन्हें अपनी जांघों में से क्यों उत्पन्न किया? तथा एक बहुत बड़े समुदाय पर इतना बड़ा कोप करके उसे अपने पैरों में से क्यों उत्पन्न किया? उन्हें पीढ़ी-दर-पीढ़ी बाकी तीनों की सेवा करते रहने के लिए क्यों बाध्य किया? इसका कोई उत्तर नहीं था।

एक और प्रश्न भी था। आखिर किसी सृष्टि रचयिता (?) ब्रह्मा ने सारे संसार की रचना की होगी तो उसने सभी देशों में ऐसी चातुर्वर्णी व्यवस्था क्यों नहीं बनायी भला?

भगवान ने आश्वलायन से पूछा –

योनकम्बोजेसु, अञ्ञेसु च पच्चन्तिमेसु जनपदेसु द्वेव वण्णा।

– यवन और कंबोज तथा अन्य पड़ोसी देशों में केवल दो ही वर्ण हैं,

अय्यो चेव दासो च – स्वामी या दास,

अय्यो हुत्वा दासो होति, दासो हुत्वा अय्यो होति।

(म० नि० २.४०३, अस्सलायनसुत्त)

– (वहां) स्वामी होकर दास हो जाता है और दास होकर स्वामी हो जाता है।

वहां के लिए ऐसा नियम क्यों नहीं बनाया गया कि स्वामी पीढ़ी-दर-पीढ़ी स्वामी बने रहेंगे और दास पीढ़ी-दर-पीढ़ी दास। फिर भला यह अभिशाप या वरदान केवल भारत को ही क्यों दिया गया कि यहां जो उच्च वर्ण का है, वह केवल स्वयं ही जीवनभर उच्च वर्ण का नहीं बना रहेगा बल्कि सदियों तक, सृष्टि के अंत तक उसकी सारी पीढ़ियां उच्चवर्ण की बनी रहेंगी और जो नीच वर्ण है, वह केवल स्वयं ही जीवन भर नीच-वर्ण नहीं बना रहेगा बल्कि सदियों तक, सृष्टि के अंत तक उस बेचारे की सारी पीढ़ियां दलित ही बनी रहेंगी। यह सृष्टि का रचयिता कैसा है? कैसी पक्षपात-पूर्ण है इसकी रचना? कैसा विचित्र मत्स्य-न्याय है इस रचना का! परंतु जो बात रंच-मात्र भी युक्ति-संगत न हो, उसका कोई क्या उत्तर देता भला?

सही माने में मुखतो जातो क्या है?

समंतचक्षु भगवान तथागत ने बुद्ध होने पर देखा – संसार मोहाच्छन्न अंधकार से घिरा हुआ है, अतः धर्म की सूक्ष्म सच्चाइयां समझ नहीं पायेगा। परंतु फिर यह भी देखा कि कुछ लोग ऐसे अवश्य हैं, जिनकी आंखों पर अविद्या का झीना-सा ही पर्दा पड़ा है। उस अज्ञान के पर्दे को दूर करने के लिए ही उन महाकारुणिक ने समझाया कि जब कोई तथागत अरहंत विद्याचरण संपन्न होकर सम्यक संबोधि प्राप्त कर लेते हैं, तब वे अनंत मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा के ब्रह्म-विहारों में रमण करते हुए

स्वयं ब्रह्म बन जाते हैं - **ब्रह्मकायो, ब्रह्मभूतो** : स्वयं धर्म बन जाते हैं - **धम्मकायो, धम्मभूतो** ।

ऐसे निर्मल, निर्लिप्त सम्यक संबुद्ध संसार में ब्रह्म का जीवन जीते हैं।

लोके अनुपलित्ता ते, ब्रह्मभूता अनासवा। (सं० नि० २.३.७६, अरहन्तसुत्त)

– वे संसार में अनुपलिप्त, ब्रह्मभूत, अनास्रव होते हैं।

जो ब्रह्मविहारी अनास्रव होते हैं, ब्रह्मभूत होते हैं, वे ही सही माने में ब्राह्मण होते हैं। यही ब्राह्मणों का ब्राह्मण्य है।

यो खो, भिक्खवे, रागक्खयो दोसक्खयो मोहक्खयो – अयं वुच्चति, भिक्खवे, ब्रह्मञ्ञत्थो। (सं० नि० ३.५.३८, दुतियब्रह्मञ्ञसुत्त)

– भिक्षुओ, यह जो राग-क्षय है, द्वेष-क्षय है, मोह-क्षय है, यही ब्राह्मण्य का सही अर्थ कहलाता है।

ब्राह्मण्य का यह सही अर्थ सभी बुद्धों पर लागू होता है। तभी कहा गया –

असत्तं सुगतं बुद्धं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं।

– जो अनासक्त हैं, सुगत हैं, बुद्ध हैं, उन्हें ही मैं ब्राह्मण कहता हूं।

अनेजं न्हातकं बुद्धं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं। (म० नि० २.४५९, वासेट्ठसुत्त)

– जो निष्कंप हैं, (धर्म गंगा में नहाये हुए) स्नातक हैं, बुद्ध हैं, उन्हें ही मैं ब्राह्मण कहता हूं।

और फिर यह भी कहा –

वाहित्वा पापके धम्मे, ये चरन्ति सदा सता।
खीणसंयोजना बुद्धा, ते वे लोकस्मि ब्राह्मणा॥

(उदा० ५, ब्राह्मणसुत्त)

– जिन्होंने अपने मानस के सारे पाप वहा दिये, जो सदा सजग रह कर विचरण करते हैं, जिनके संयोजन-बंधन टूट गये हैं, ऐसे बुद्ध ही संसार में ब्राह्मण हैं।

अग्गिक भारद्वाज अथवा सुंदरिक भारद्वाज जैसे जात्यभिमानी ब्राह्मण जो चंद मिनट पहले भगवान बुद्ध को अपमान-भरे शब्दों से संबोधित कर रहे थे वही उनकी नितांत निःसंग निःस्पृहता देख कर, उनकी करुणासिक्त वाणी सुन कर इतने बदल गये कि भोजन ग्रहण करने का अनुरोध करते हुए उन्हें ससम्मान ब्राह्मण कह कर उनका अभिवादन करने लगे।

भुञ्जतु भवं गोतमो। ब्राह्मणो भवं – आप गौतम भोजन करें। आप ब्राह्मण हैं। (सं० नि० १.१.१९४, अग्गिकसुत्त)

भुञ्जतु भवं गोतमो। ब्राह्मणो भवं – आप गौतम भोजन करें। आप ब्राह्मण हैं। (सं० नि० १.१.१९५, सुन्दरिकसुत)

जिन्हें उनके विरोधी तक ब्राह्मण कहने लगे, उन्होंने अपने आपको ब्राह्मण कहा तो उनका ऐसा कहना समीचीन ही था। सचमुच भगवान की यह घोषणा कितनी सही थी –

अहमस्मि, भिक्खवे, ब्राह्मणो – भिक्षुओ, मैं ब्राह्मण हूं।

याचयोगो सदा पयतपाणि।

– याचना करने योग्य हूं। सदा खुले हाथ (धर्म) बांटने वाला हूं।

अन्तिमदेहधरो – अंतिम देहधारी हूं।

अनुत्तरो भिसक्को सल्लकत्तो।

– सर्वश्रेष्ठ भिषक यानी वैद्य हूं। शल्यकर्ता यानी सर्जन हूं।

ऐसे सही ब्राह्मण से धर्म का दान लेकर तुम में से जो-जो धर्मिष्ठ हो गये –

तस्स मे तुम्हे पुत्ता ओरसा मुखतो जाता,

– तुम सब मेरे औरस पुत्र हो, मुख से जन्मे,

धम्मजा धम्मनिम्मिता – धर्म से जन्मे, धर्म से निर्मित।

धम्मदायादा, नो आमिसदायादा। (इतिवु० १००, ब्राह्मणधम्मयागसुत्त)

– धर्म-दायाद यानी धर्म के उत्तराधिकारी हो, वारिस हो; आमिस-दायाद यानी सांसारिक लाभों के वारिस नहीं।

सचमुच जो भगवान के मुख से धर्म सुन कर धर्मलाभी हुए, धर्माधिकारी हुए, वे भगवान के मुख से उत्पन्न उनकी औरस संतान ही कहलाये, धर्म के उत्तराधिकारी ही कहलाये। ब्राह्मण बुद्ध ने अपनी धर्म-वाणी से उन सबको अपना धर्म-पुत्र अथवा धर्म-पुत्री बनाया। वे धर्म से ही उत्पन्न हुए, धर्म से ही उनका निर्माण हुआ। उनमें से अनेकों ने अत्यंत हर्ष-विभोर होकर इस सच्चाई की धर्म-घोषणा भी की। तिपिटक में इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलेंगे। आओ, कुछ एक देखें।

ब्राह्मण हुए बुद्ध की धर्म-धीता सुंदरी थेरी ने हर्ष के उद्गार प्रकट करते हुए कहा –

तुवं बुद्धो तुवं सत्था, तुय्हं धीताम्हि ब्राह्मण।
ओरसा मुखतो जाता, कतकिच्चा अनासवा॥

(थेरीगा० ३३७, सुन्दरीथेरीगाथा)

– तुम बुद्ध हो, तुम शास्ता हो। हे ब्राह्मण, मैं तुम्हारी पुत्री हूं, तुम्हारे हृदय से उत्पन्न, तुम्हारे मुख से जन्मी। मैं कृत-कृत्य हो गयी हूं। मैं अनास्रव यानी निष्पाप हो गयी हूं।

इसी प्रकार बुद्ध-पुत्री उत्तमा थेरी के उद्गार हैं –

ओरसा धीता बुद्धस्स, निब्बानाभिरता सदा।
विक्खीणो जातिसंसारो, नत्थि दानि पुनब्भवो॥

(थेरीगा० ४६-४७, अपराउत्तमाथेरीगाथा)

– मैं बुद्ध की औरस पुत्री हूं। सदा निर्वाण-अभिरत रहती हूं। मेरा सांसारिक आवागमन क्षय हो गया है। अब मेरा पुनर्जन्म नहीं है।

एक अन्य हृदयग्राही उद्गार देखें महाप्रजापती गौतमी का, जो भगवान की मौसी थी। भगवान की जननी महामाया के निधन पर नवजात शिशु को अपने स्तन का दूध पिला कर उसने उन्हें माता-सदृश लाड़-प्यार से पाला था। अतः वह बुद्ध की स्तनपायी माता थी। दूसरी ओर उनकी शिष्या होने

के नाते बुद्ध की औरस धर्म-पुत्री भी थी। बड़े मर्म-स्पर्शी उद्गार हैं इस ममतामयी माता के, श्रद्धालु पुत्री के –

अहं सुगत ते माता, त्वं च वीर पिता मम।
सद्धम्मसुखदनाथ, तया जातम्हि गोतम॥

(अप० थेरी २.२.१३०, महापजापतिगोतमीथेरीअपदान)

– हे सुगत, मैं तुम्हारी मां हूं। हे वीर, तुम मेरे पिता हो। हे नाथ, हे गौतम, तुमने मुझे सुखद सद्धर्म में जन्म दिया है।

इस जीवन में उनके साथ एक ही दिन जन्मा हुआ उनका बचपन का साथी कालुदायी उनकी शिक्षा ग्रहण कर अरहंत हुआ और हर्ष-विभोर होकर गा उठा –

बुद्धस्स पुत्तोम्हि असय्हसाहिनो।
अङ्गीरसस्सप्पटिमस्स तादिनो॥ (थेरगा० ५३६, कालुदायित्थेरगाथा)

– मैं उन अनुपम तथागत बुद्ध का पुत्र हूं, जो अंगीरस हैं और असह्य को सहने वाले हैं।

गया काश्यप

ब्राह्मण कुल में उत्पन्न गयाकस्सप जटाधारी परिव्राजक होकर अपने दो सौ शिष्यों के साथ गया में रहता था और नित्य फल्गु नदी में स्नान करके अपने पाप धो लेने की मिथ्या मान्यता में जकड़ा हुआ था। भगवान के संपर्क में आने पर उसे शुद्ध धर्म मिला, जिसे धारण कर उसने कहा कि अब मैं धर्म की गंगा में स्नान कर वस्तुतः अपने सारे पाप धो चुका हूं।

सुद्धो सुद्धस्स दायादो, पुत्तो बुद्धस्स ओरसो।

(थेरगा० ३४८, गयाकस्सपत्थेरगाथा)

– अब मैं शुद्ध हूं। शुद्ध हुए भगवान बुद्ध का दायाद हूं, वारिस हूं। अब मैं भगवान बुद्ध का औरस पुत्र हूं।

वंगीस

इसी प्रकार भगवान का शिष्य वंगीस अपने साथियों समेत सबको भगवान के पुत्र घोषित करता है-

सब्बे भगवतो पुत्ता, पलापेत्थ न विज्जति। (थेरगा० १२४६, वङ्गीसत्थेरगाथा)

- ये सभी भगवान के पुत्र हैं। यहां कोई तुच्छ व्यक्ति है ही नहीं।

बुद्ध की संतान ब्राह्मण

जो बुद्ध की संतान हैं वे ब्रह्मा की संतान हैं, क्योंकि बुद्ध ब्राह्मण भी हैं, ब्रह्मभूतो ब्रह्मा भी हैं।

ब्रह्म कहते हैं महान को, श्रेष्ठ को। ब्रह्मा वह जो महानता, श्रेष्ठता धारण किये हुए है। भगवान बुद्ध महानता, श्रेष्ठता धारण किये हुए थे, इसी माने में **ब्रह्मभूतो** ब्रह्मा थे।

ब्रह्म शब्द का एक अर्थ है- धर्म। ब्रह्म भी श्रेष्ठ, धर्म भी श्रेष्ठ। अतः भगवान बुद्ध ने जो धर्मचक्र-प्रवर्तन किया वह ब्रह्मचक्र-प्रवर्तन भी कहलाया।

एस सो भगवा बुद्धो, एस सीहो अनुत्तरो।
सदेवकस्स लोकस्स, ब्रह्मचक्कं पवत्तयि॥

(इतिवु० ११२, लोकसुत्त)

- ऐसे वह भगवान बुद्ध हैं, ऐसे अनुत्तर सिंह हैं जिन्होंने देवता सहित लोक में ब्रह्मचक्र प्रवर्तित किया।

जो मुक्ति-पथ भगवान प्रदर्शित करते हैं, वह धर्मयान कहलाता है और वही ब्रह्मयान भी। मुक्त अवस्था तक पहुँचाने वाला जो धर्मयानरूपी वाहन है, वही ब्रह्मयानरूपी वाहन है।

धर्माचरण को ब्रह्माचरण कहा जाता है। **ब्रह्मचरिया धम्मचरिया** को ही कहते हैं। दोनों सदाचरण के पर्याय हैं। ब्रह्मचर्य काम-भोग से सदा विरत

रहने को भी कहते हैं। यह धर्माचरण यानी सदाचरण की सर्वश्रेष्ठ अवस्था है। रूप एवं अरूप ब्रह्म लोक के प्राणी ब्रह्मा कहलाते हैं, क्योंकि वे काम-भोग के क्षेत्र का अतिक्रमण कर श्रेष्ठ ब्रह्मचर्य का जीवन जीते हैं। जो बुद्ध हैं, वे भी श्रेष्ठ ब्रह्मचर्य का जीवन जीते हैं। इसलिए भी बुद्ध **ब्रह्मभूतो** ब्रह्मा हैं।

ब्रह्मलोक में उन्हीं प्राणियों का जन्म होता है, जिन्होंने श्रेष्ठ सदाचार का जीवन जिया है और मैत्री, करुणा, मुदिता तथा उपेक्षा- इन चार भावनाओं का प्रपुष्ट अभ्यास किया है। इन ब्रह्मलोकों में रहने वाले सारे प्राणी अनंत मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा का जीवन जीते हैं। इसीलिए इन चारों को ब्रह्मविहार कहते हैं। यही श्रेष्ठविहार है, यही धर्मविहार है। भगवान बुद्ध इन्हीं विहारों का जीवन जीते थे। इस माने में भी बुद्ध **ब्रह्मभूतो** ब्रह्मा थे।

भगवान बुद्ध **धम्मकायो** थे यानी मूर्तिमान धर्म थे, जीवंत धर्म थे, धर्म का मूर्तरूप थे। इस माने में भी वे **ब्रह्मकायो** ब्रह्मा थे, सजीव श्रेष्ठता थे, सजीव महानता थे। श्रेष्ठता, महानता के मूर्तरूप थे।

धर्म और ब्रह्म पर्यायवाची शब्द हैं, अतः **धम्मकायो** कहें या **ब्रह्मकायो**, **धम्मभूतो** कहें या **ब्रह्मभूतो**, ये बुद्ध के ही समानार्थी शब्द हैं।

जो मार सेना का प्रमर्दन कर देते हैं अर्थात मार के साम्राज्य क्षेत्र को, यानी जीवन-मरण के चक्र को नष्ट कर देते हैं, उनकी तुलना सामान्य प्राणियों से नहीं की जा सकती। इस माने में वे अतुल्य हैं- **अतितुलो**। ऐसे मुक्त व्यक्ति ही **ब्रह्मभूतो** कहलाते हैं।

ब्रह्मभूतो अतितुलो, मारसेनप्पमद्दनो। (म० नि० २.३९९, सेलसुत्त)

यही कारण था कि सुंदरिक भारद्वाज ब्राह्मण ने भगवान से कहा-

ब्रह्मा हि सक्खि - आप साक्षात ब्रह्मा हैं।

(सु० नि० ४८३, सुन्दरिकभारद्वाजसुत्त)

जब ऐसे **ब्रह्मभूतो** ब्रह्मा अपने मुख से **ब्रह्मयान** यानी **धर्मयान** का उपदेश देते हैं, ब्रह्मचक्र यानी धर्मचक्र का प्रवर्तन करते हैं, तब उनके हृदय से और

मुख से निकली हुई वाणी सुन कर अगर कोई योग्य व्यक्ति धर्म धारण कर उन जैसी मुक्त अवस्था को प्राप्त हो जाता है, तो वह ब्राह्मण हो जाता है। वह उनके उर से निकली हुई वाणी से उत्पन्न होने के कारण उनका औरस पुत्र कहलाता है। इसलिए इस भाव में यह कहना ठीक ही है –

ब्राह्मणाव ब्रह्मुनो पुत्ता ओरसा, मुखतो जाता, ब्रह्मजा, ब्रह्मनिम्मिता, ब्रह्मदायादा।

(म० नि० २.४०२, अस्सलायनसुत्त)

– ब्राह्मण ब्रह्मा के औरस पुत्र हैं, उनके मुँह से उत्पन्न हैं, ब्रह्मा से जन्मे हैं, ब्रह्म द्वारा निर्मित हैं, ब्रह्म दायाद हैं, यानी ब्रह्मा के उत्तराधिकारी हैं।

इस प्रकार ब्रह्मभूतो बुद्ध के सभी औरस पुत्र सही माने में ब्राह्मण हुए। कुछ उदाहरण देखें;–

अंगुलिमाल

वह कोशल-नरेश के पुरोहित भार्गव ब्राह्मण का पुत्र था। नाम था अहिंसक। गुरुकुल में पढ़ते हुए सहपाठियों के षड्यंत्र के कारण आचार्य के संदेह का पात्र बना। आचार्य ने उससे गुरु-दक्षिणा-स्वरूप मनुष्यों की एक हजार अँगुलियां मांगीं। परिणामतः वह हत्यारा बन गया। वन-प्रदेश में से गुजरते हुए यात्रियों की हत्या कर-करके गले में पहनी माला के सूत्र में उनकी अँगुलियां पिरोता गया। नौ सौ निन्यानवे अँगुलियां पूरी हो जाने पर अंतिम अँगुलि की खोज में अपनी मां की हत्या करने के लिए उद्यत हुआ। उसे मातृ-हत्या के दोष से बचाने के लिए महाकारुणिक भगवान स्वयं उसके पास पहुँचे। अंगुलिमाल ने भगवान की हत्या करनी चाही, पर कर न सका। समीप भी न पहुँच सका। इस ऋद्धि बल से प्रभावित होकर उसने भगवान से बातचीत की। धर्म की वाणी सुन कर इतना प्रभावित हुआ कि अपने शस्त्र पहाड़ की कंदरा में फेंक कर भगवान की चरण-शरण ग्रहण कर धर्मानुपश्यी हुआ। भवमुक्त अरहंत हुआ। तब उसने ये उद्गार प्रकट किये –

ब्रह्मजच्चो पुरे आसिं, उदिच्चो उभतो अहु।

– पहले मैं केवल नाम के लिए ब्रह्म-पुत्र था, क्योंकि माता-पिता दोनों की ओर से परिशुद्ध औदीच्य ब्राह्मण जाति का था।

सोज्ज पुत्तो सुगतस्स, धम्मराजस्स सत्थुनो॥

(थेरगा० ८८९, अङ्गुलिमालत्थेरगाथा)

– वही मैं आज सुगत धर्मराज शास्ता का पुत्र हूं।

धर्मराज का पुत्र हुआ, तो सही माने में ब्राह्मण हो गया।

अहिंसकोति मे नामं, हिंसकस्स पुरे सतो।

– (जैसे पहले केवल नाम के लिए ब्राह्मण था वैसे ही) केवल मेरा नाम अहिंसक था, पर मैं हिंसा में ही रत रहता था।

अज्जाहं सच्चनामोम्हि, न नं हिंसामि किञ्चनं।

(थेरगा० ८७९, अङ्गुलिमालत्थेरगाथा)

– आज मेरा नाम सार्थक हुआ, मैं किसी की भी हत्या नहीं करता। सचमुच अहिंसक 'अहिंसक' हुआ। किसी की हत्या कैसे कर सके भला, बुद्ध-पुत्र ब्राह्मण जो है। वे दिन गये जब कि वह –

लोहितपाणि पुरे आसिं, अङ्गुलिमालोति विस्सुतो।

(थेरगा० ८८१, अङ्गुलिमालत्थेरगाथा)

– अंगुलिमाल के नाम से कुख्यात था और खूनी हाथों वाला था।

अब तो उसके अपने ही शब्दों में –

सविभत्तेसु धम्मेसु, यं सेट्ठं तदुपागमं। (थेरगा० ८८५, अङ्गुलिमालत्थेरगाथा)

– सम्यक प्रकार से विभक्त, विभाजित किये हुए धर्मों में मैंने निर्वाण को पा लिया है, जो श्रेष्ठ है।

यानी मुक्त अवस्था प्राप्त कर ली। अब तो वह बुद्धपुत्र हो गया। अतः सही ब्राह्मण हो गया; धर्मविहारी, ब्रह्मविहारी हो गया। द्वेष का नामोनिशान नहीं रह गया उसमें। बुद्ध के मुँह से नया जन्म पाने के पहले गलत रास्ते चलते हुए जिन लोगों के स्वजनों, परिजनों की हत्या की थी, वे उससे दुश्मनी रखते थे, परंतु यह बुद्धपुत्र उनके प्रति करुणा ही बरसाता था।

दिसापि मे धम्मकथं सुणन्तु – मेरे दुश्मन भी धर्मकथा सुनें,

दिसापि मे युञ्जन्तु बुद्धसासने – मेरे दुश्मन भी बुद्ध की शिक्षा के पालन में लग जायँ,

दिसापि मे ते मनुजे भजन्तु, ये धम्ममेवादपयन्ति सन्तो।

(थेरगा० ८७४, अङ्गुलिमालत्थेरगाथा)

– ये दुश्मन भी ऐसे सत्पुरुषों की संगति करें, जिन्होंने धर्म धारण की प्रेरणा दी है।

ऐसे किसी की संगति से ही तो ब्राह्मण अंगुलिमाल सही ब्राह्मण बन सका। उसका उद्धार हुआ। राजा प्रसेनजित उसे मृत्युदंड दिया चाहता था, परंतु किसी अत्याचारी हत्यारे की हत्या कर देने से न उसका उद्धार होता है, न पृथ्वी का भार हल्का होता है। उसकी राक्षसी-वृत्ति को दूर कर उसे सही ब्राह्मण बना देने से ही उस हत्यारे का भी उद्धार होता है और पृथ्वी का भी भार हल्का होता है। धर्म यही करता है। धर्म किसी गिरे हुए को ऊपर उठाता है न कि नीचे गिराता है। किसी गर्हित को अर्हत बनाता है, पूज्य बनाता है। किसी दुष्ट व्यक्ति की राक्षसी-वृत्ति को समाप्त कर उसमें ब्राह्मी-वृत्ति जगाने का काम करता है, तो ही धर्म 'धर्म' होता है। अंगुलिमाल शुद्ध धर्म के संसर्ग में आकर ही गर्हित से अर्हत अवस्था तक पहुँचा। हत्यारे से ब्राह्मण बना। सही माने में ब्राह्मण बना।

अग्गिक भारद्वाज

वह ब्राह्मण कुल में उत्पन्न उक्कट्ठानगर का निवासी था। कठोर तप करते हुए कठिन अग्नि परिचर्या करता था। वह भगवान के संपर्क में आया। उनसे धर्म पा कर विपश्यना-साधना द्वारा अरहंत अवस्था प्राप्त की। उसके हर्ष भरे उद्गार देखें –

ब्रह्मबन्धु पुरे आसिं – पहले ब्रह्मबंधु था यानी ब्राह्मण कुल का सदस्य था।

इदानि खोम्हि ब्राह्मणो – अब मैं सही माने में ब्राह्मण हूं।

तेविज्जो न्हातको चम्हि – मैं सही माने में त्रैविद्य हूं, स्नातक हूं।

सोत्तियो चम्हि वेदगू – मैं श्रोत्रिय हूं, मैं वेदज्ञ हूं।

(थेरगा० २२१, अग्गिकभारद्वाजत्थेरगाथा)

शुद्ध धर्म का अनुभव कर पारंपरिक रूढ़ शब्दों का सही अर्थ समझ में आ गया और उन्हें धारण कर कृतार्थ हुआ।

दासी पूर्णा

पूर्णा श्रेष्ठि अनाथपिंडिक के घर की क्रीतदासी थी। अपने मालिक के माध्यम से भगवान के संपर्क में आयी। अतः धर्म के संपर्क में आयी। निर्वाण का प्रथम साक्षात्कार कर स्रोतापन्न अवस्था को प्राप्त हुई। श्रेष्ठि ने उसे मुक्त किया, परंतु फिर भी वह उसकी सेवा करती रही।

एक दिन पानी में डुबकी लगा कर अपने पाप धो लेने की अंधमान्यता मानने वाले एक ब्राह्मण को देख कर उसने उसे सद्धर्म का उपदेश दिया। वह प्रभावित होकर भगवान की शरण गया और शुद्ध धर्म पाकर कृत-कृत्य हुआ। तब उसने हर्ष के ये उद्गार प्रकट किये –

ब्रह्मबन्धु पुरे आसिं, अज्जम्हि सच्चब्राह्मणो।

– पहले मैं केवल ब्रह्मबंधु था, अब सच्चे अर्थ में ब्राह्मण हुआ हूं।

तेविज्जो वेदसम्पन्नो, सोत्तियो चम्हि न्हातको॥(थेरीगा० २५१, पुण्णाथेरीगाथा)

– अब मैं तीनों विद्याओं का जानकार हूं। सही माने में वेद-संपन्न, श्रोत्रिय और स्नातक हूं।

रोहिणी पिता

अपनी पुत्री द्वारा प्रेरित किये जाने पर ब्राह्मण रोहिणी-पिता भगवान बुद्ध के संपर्क में आया, उनसे दीक्षित हुआ और विपश्यना-साधना सीख कर उसने अरहंत पद प्राप्त किया। उसने भी इन्हीं शब्दों में अपने उद्गार प्रकट किये –

ब्रह्मबन्धु पुरे आसिं, सो इदानिम्हि ब्राह्मणो।
तेविज्जो सोत्तियो चम्हि, वेदगू चम्हि न्हातको॥

(थेरीगा० २९१, रोहिनीथेरीगाथा)

सचमुच वह भी सही ब्राह्मण बना और धन्य हुआ।

एक अनुमान

सभी बुद्ध एक समान होते हैं। अतः जैसे गौतम बुद्ध **ब्रह्मभूतो ब्रह्मा** कहलाये और उनके मुख से शुद्ध धर्म सुन कर उनके प्रबुद्ध शिष्य **ब्रह्मुनापुत्ता, मुखतोजाता, ब्रह्मजा** ब्राह्मण कहलाये वैसे ही गौतम बुद्ध के पूर्वकालीन बुद्ध भी **ब्रह्मभूतो ब्रह्मा** कहलाये होंगे और उनके मुख से शुद्ध धर्म सुन कर उनके प्रबुद्ध शिष्य भी **ब्रह्मुनापुत्ता, मुखतोजाता, ब्रह्मजा** ब्राह्मण कहलाये होंगे। यही शब्दावली कालांतर में जातिवादियों के हाथ में पड़ कर अपना सही मौलिक अर्थ खो बैठी होगी और यह अनुमान करना गलत नहीं होगा कि इस बिगड़े हुए अर्थ में यह भी जोड़ दिया गया होगा कि ब्रह्मा की भुजा से क्षत्रिय, जांघों से वैश्य और पैर से शूद्र उत्पन्न हुए और इस प्रकार यह मनमानी बात जोड़ कर ऊंच-नीच की जातिवादी वर्ण-व्यवस्था दृढ़ कर ली गयी होगी। इस प्रकार इस धर्मकथन का सही स्वरूप बिगड़ते-बिगड़ते दूषित जातिवाद और वर्णवाद में परिणत हो गया होगा और उसने अपना सही, मूल अर्थ खोकर यह धर्म विरोधी अर्थ धारण कर लिया होगा जिससे कि व्यक्ति और समाज दोनों की इतनी बड़ी हानि हुई।

एक बुद्ध और दूसरे बुद्ध के बीच बहुत बड़ा अंतराल होता है। इस लंबे समय में बुद्ध की धर्म-वाणी के कुछ एक बोल पीढ़ी-दर-पीढ़ी भाषाओं में छनते हुए चले आते हैं, परंतु उनका सही अर्थ लुप्त हो जाता है जो कभी-कभी विकृत होकर बड़ा घातक सिद्ध होता है। धर्म का सही अर्थ जाने-समझे बिना व्यक्ति धर्म धारण करने से वंचित तो रह ही जाता है, प्रत्युत धार्मिक न होकर अपने को धार्मिक मान बैठने का मिथ्या दंभ अपने सिर पर चढ़ा लेता है।

सही अर्थ के अनुसार कोई व्यक्ति किसी **ब्रह्मभूतो** ब्राह्मण के मुख से धर्म-वाणी सुन कर स्वयं मुक्त हुआ तो ब्राह्मण बना। परंतु उस व्यक्ति की पीढ़ियां बिना ही मुक्त हुए कैसे ब्राह्मण बन गईं? लोगों को इस घोर अधःपतन से उबारने के लिए तथागत भगवान बुद्ध के हृदय से करुणा की गंगा बही और उन्होंने लोगों को शुद्ध सनातन धर्म का सही अर्थ समझाने का भरसक प्रयत्न किया।

भगवान के जीवन काल की एक घटना–

जातिमद में चूर हो मागण्डिय नामक परिव्राजक ब्राह्मण ने भगवान को अपशब्द कहे। भगवान ने उसे प्यार भरे चित्त से शुद्धधर्म समझाया। वह जैसे-जैसे करुणासिक्त बुद्ध-वाणी सुनता गया, वैसे-वैसे शांत होता गया। धर्म का सार समझाते हुए भगवान ने उसे एक गाथा कही–

आरोग्यपरमा लाभा, निब्बानं परमं सुखं।
अट्ठङ्गिको च मग्गानं, खेमं अमतगामिनं॥

(म० नि० २.२१५, मागण्डियसुत्त)

– आरोग्य परम लाभ है, निर्वाण परम सुख है। मार्गों में अमृत की ओर ले जाने वाला आठ अंग वाला मार्ग क्षेमपूर्ण है।

पिछले अरहंत सम्यक संबुद्ध और इस अरहंत सम्यक संबुद्ध के बीच के लंबे अंतराल के कारण यह वाणी समाज में छनती हुई चली आयी, परंतु काल-प्रवाह में गाथा की दूसरी पंक्ति लुप्त हो गयी। पहली ज्यों की त्यों कायम रही। भगवान बुद्ध के मुँह से यह गाथा सुन कर ब्राह्मण मागण्डिय उछल पड़ा और बोला–

अच्छरियं, भो गोतम, अब्भुतं भो गोतम – आश्चर्य है, हे गौतम, अद्भुत है, हे गौतम।

यह जो सुभाषित आप गौतम ने कहा है, यह मैंने अपने परिव्राजक आचार्य, प्राचार्य को भी कहते सुना है।

तयिदं, भो गोतम, समेति – यह उससे कितना मेल खाता है।

(म० नि० २.२१६, मागण्डियसुत्त)

भगवान ने कहा –

पुब्बकेहेसा, मागण्डिय, अरहन्तेहि सम्मासम्बुद्धेहि गाथा भासिता।

(म० नि० २.२१७, मागण्डियसुत्त)

– हे मागण्डिय, पूर्व काल के अरहंत सम्यक संबुद्धों ने यह गाथा कही थी।

सा एतरहि अनुपुब्बेन पुथुज्जनगाथा। (म० नि० २.२१८, मागण्डियसुत्त)

– वह शनैः शनैः पुथुज्जन यानी धर्म से पृथक हुए अनाड़ी संप्रदायवादियों के हाथ पड़ गयी और अब –

अञ्ञतित्थिया परिब्बाजका अन्धा अचक्खुका अजानन्ता आरोग्यं, अपस्सन्ता निब्बानं, अथ च पनिमं गाथं भासन्ति।

(म० नि० २.२१७, मागण्डियसुत्त)

– जो संप्रदायवादी परिव्राजक, प्रज्ञाचक्षुविहीन, अंधभूत हैं, वे आरोग्य को बिना जाने ही, निर्वाण को बिना देखे ही, इस गाथा का पाठ करते हैं।

समय के बहाव में इस गाथा का सही अर्थ बह गया। उसे स्पष्ट करने के लिए भगवान ने मागण्डिय से पूछा कि तुम इस गाथा का क्या अर्थ समझते हो?

मागण्डिय ने इसका उत्तर देते हुए अपने शरीर को छूकर कहा –

इदन्तं, भो गोतम, आरोग्यं, इदन्तं निब्बानं।

– यह है, हे गौतम, आरोग्य, यह है निर्वाण।

अहञ्हि, भो गोतम, एतरहि अरोगो सुखी, न मं किञ्चि आबाधति।

(म० नि० २.२१६, मागण्डियसुत्त)

– हे गौतम, मैं इस समय अरोगी हूं, सुखी हूं। मुझे कोई व्याधि नहीं है।

शरीर का रोगमुक्त होना ही उसके लिए आरोग्यता है और यह शारीरिक सुख ही उसके लिए निर्वाण सुख है। वह बेचारा क्या जाने कि इस

गाथा में शरीर को नहीं बल्कि चित्त को विकार-रूपी रोगों से मुक्त कर लेने को आरोग्य कहा गया है तथा अनित्यधर्मा शरीर और चित्त के परे नित्य, शाश्वत, ध्रुव, इंद्रियातीत निर्वाण की उपलब्धि को परम सुख कहा गया है।

जब मानव समाज में चित्त को विकारों से विमुक्त करके निरोगी बना देने वाली प्रज्ञा नष्ट हो गयी, क्योंकि ऐसा कर सकने की विधि नष्ट हो गयी, तो आरोग्य का सही अर्थ भूल कर अज्ञानी लोग उसे शरीर के निरोगी होने के अर्थ में समझने, समझाने लगे। जब मानव समाज चित्त को विकारों से नितांत विमुक्त करके शरीर और चित्त के परे की इंद्रियातीत अवस्था का दर्शन कर सकने की प्रज्ञा खो बैठा, क्योंकि ऐसा कर सकने की विपश्यना विधि खो बैठा, तब निर्वाण के परम सुख को शरीर के व्याधिविहीन होने का सुख मान बैठा।

भगवान गौतम के सम्यक संबुद्ध होने और वर्तमान काल के बीच छब्बीस शताब्दियों का समय ही गुजरा है, परंतु बुद्ध-वाणी के शोधकर्ता इस बात को देखेंगे कि भारत में यह धर्म-वाणी अपने मूल रूप में अवश्य लुप्त हुई, परंतु इसके बोल यहां की सभी परंपराओं के परवर्ती साहित्य में छनते हुए चले आ रहे हैं। बुद्ध-वाणी की गूंज, अनुगूंज सिद्धों और नाथों की बोलियों में से होती हुई कबीर, दादू और नानकदेव आदि संतों की वाणी में समाहित हो गयी। इन शब्दों के अर्थ कहीं-कहीं तो वैसे ही तद्रूप और शुद्ध बने रहे, परंतु अनेक जगह विकृत हुए। कहीं-कहीं इतने विद्रूप हुए कि अर्थ का अनर्थ हो गया। यही अंतराल जब बहुत विशद हो जाता है, तब धर्म-वाणी के कोई-कोई शब्द कायम रहने पर भी उनके अर्थ कभी-कभी बहुत ही बिगड़ जाते हैं।

ब्राह्मण शब्द का अर्थ कैसे बिगड़ा?

भगवान ने एक बार समझाया कि प्राचीन काल में मानव समाज के सभी लोग शील, सदाचार का जीवन जीते थे। धीरे-धीरे उनका अधःपतन हुआ। चारों ओर अनाचार फैलने लगा, तब समाज के कुछ लोग उस पापमय, अकुशल जीवन से उबरने के लिए कटिबद्ध हुए।

ते पापके अकुसले धम्मे वाहेसुं।

– उन्होंने अकुशल धर्मों को वहा दिया यानी दूर कर दिया।

पाप को बहा दिया, इसीलिए **ब्राह्मण** कहलाये।

ते अरञ्ञायतने पण्णकुटियो करित्वा – वे अरण्य में पर्णकुटी बना कर,

पण्णकुटीसु झायन्ति – पर्णकुटी में ध्यान करते थे।

वीतङ्गारा वीतधूमा पन्नमूसला – वे अंगार, धूआं और मूसल के त्यागी बने।

यानी वे न अनाज कूटने के लिए मूसल रखते थे; न भोजन पकाने के लिए अनाज रखते थे; न उनके यहां चूल्हे का धूआं उठता था।

उनका त्याग, तप देख कर लोगों के मन में स्वभावतः उनके प्रति बड़ी श्रद्धा और आदर का भाव जागा। वे गांव, नगर में जाकर सुबह-शाम लोगों से भोजन मांग लाते थे। फिर ध्यान में ही लग जाते थे।

झायन्तीति खो, वासेट्ठ, 'झायका, झायका'त्वेव दुतियं अक्खरं उपनिब्बत्तं।

(दी० नि० ३.१३२, अग्गञ्ञसुत्त)

– हे वासिष्ठ, वे ध्यान करते थे। इसलिए उन (ब्राह्मणों का) दूसरा नाम पड़ा – **झायका** यानी ध्यायक।

परंतु कुछ समय बाद उनमें से बहुतों ने ध्यान करना छोड़ दिया और शिक्षण का काम करने लगे, तब उनका तीसरा नाम पड़ा – **अज्झायका** यानी अ-ध्यायक। उन दिनों अध्यायक शब्द हेय समझा जाता था। समय के फेर से यही श्रेष्ठ समझा जाने लगा। सम्मान के भाव में ऐसा कहा जाने लगा कि – **"अज्झायको मन्तधरो तिण्णं वेदानं पारगू"**। इस प्रकार ध्यान के स्थान पर पांडित्य को महत्त्व दिया जाने लगा।

वस्तुतः ब्राह्मण और ध्यानी ही सही ब्राह्मणों के लिए उपयुक्त शब्द थे। इसलिए कहा गया –

यदा हवे पातुभवन्ति धम्मा, आतापिनो झायतो ब्राह्मणस्स।
विधूपयं तिट्ठति मारसेनं, सुरियोव ओभासयमन्तलिक्खं॥

(उदा० ३, ततियबोधिसुत्त)

– जब किसी तपस्वी, ध्यानी ब्राह्मण को धर्म प्रकट हो जाते हैं, तब ऐसा व्यक्ति समस्त मार-सेना को परास्त कर तेजस्वी सूर्य की भांति भासमान होता है।

ऐसा व्यक्ति सम्यक संबुद्ध होकर, विद्याचरणसंपन्न होकर, **धम्मभूतो** होकर धर्म बांटता है, तो उसके हृदय से, मुख से निकली हुई धर्म-वाणी अनेकों को सही माने में ब्राह्मण बनाती है। वे उसके **पुत्ता ओरसा, मुखतो जाता, धम्मजा, धम्मनिम्मिता, धम्मदायादा** होते हैं। वे ही सही माने में **ब्रह्मुना पुत्ता ओरसा, मुखतो जाता, ब्रह्मजा, ब्रह्मनिम्मिता, ब्रह्मदायादा** होते हैं। इसी प्रकार **ब्रह्मभूतो ब्राह्मणो** भगवान बुद्ध ने अनेकों को अरहंत अवस्था तक पहुँचा कर ब्राह्मण बनाया।

चातुर्वर्णी विशुद्धि

ब्राह्मणों की शुद्धि करके केवल उन्हें ही सही ब्राह्मण बनाना बुद्ध मंतव्य नहीं था। अशुद्धि केवल ब्राह्मणों में ही नहीं थी। वह तो सर्वत्र थी। अशुद्धि का अर्थ है चित्त का विकारयुक्त होना और शुद्धि का अर्थ है चित्त का विकारविमुक्त होना। चित्त-विकार तो सर्वव्यापी है। अतः अशुद्धि सर्वव्यापी है और यह न जाने कब से चली आ रही है। इसी कारण भगवान ने कहा –

पुब्बा कोटि न पञ्ञायति अविज्जानीवरणानं सत्तानं तण्हासंयोजनानं सन्धावतं संसरतं।

– अविद्या के आवरण से आच्छादित, तृष्णा के बंधन में बँधे, भव-संसार में दौड़ लगाते हुए, संसरण करते हुए प्राणियों के आदि का पता नहीं लगता है।

अभिक्खणं सकं चित्तं पच्चवेक्खितब्बं।

- प्रतिक्षण अपने चित्त का प्रत्यवेक्षण करते रहना चाहिए यानी इसे देखते रहना चाहिए। इसके प्रति सतत सजग रहना चाहिए।

दीघरत्तमिदं चित्तं संकिलिट्ठं रागेन दोसेन मोहेन।

- चित्त बहुत समय से राग, द्वेष और मोह से मैला हो गया है।

चित्तसङ्किलेसा, भिक्खवे, सत्ता सङ्किलिस्सन्ति।

- भिक्षुओ, चित्त के मैले होने पर प्राणी मैले होते हैं, अशुद्ध होते हैं।

चित्तवोदाना सत्ता विसुज्झन्ति। (सं० नि० २.३.१००, दुतियगद्दुलबद्धसुत्त)

- चित्त की शुद्धि से प्राणी विशुद्ध होते हैं।

चित्त शुद्धि ही विकारविमुक्ति और विकारविमुक्ति ही भवविमुक्ति है। भगवान लोगों को भवविमुक्ति की विद्या बांटने के लिए ही सम्यक संबुद्ध बने थे। वह किसी का पक्षपात कैसे करते भला? यह ठीक है कि समस्त आबादी में ब्राह्मणों की संख्या कम होते हुए भी यह वर्ग समाज का अगुआ था, क्योंकि इस वर्ग के लोग सर्वाधिक मात्रा में शिक्षित थे। समाज का यह वर्ग छोटा परंतु अत्यंत बुद्धिशाली था। भगवान की शिक्षा बुद्धिसंगत, न्यायसंगत और युक्तिसंगत थी। अतः भगवान के संपर्क में बुद्धिवादी लोगों का अधिक संख्या में आना स्वाभाविक था। उनमें से अनेक भगवान का विरोध करने आये, उनसे विवाद करने आये। परंतु उनकी बातें न्यायसंगत लगीं और कल्याणकारिणी लगीं, तो भगवान की शिक्षा स्वीकार कर अपनी चित्तविशुद्धि में लग गये। भगवान तो अपनी ओर से सभी को शुद्धि के लिए शिक्षा देते थे। उनकी शिक्षा किसी एक ही वर्ण, एक ही जाति अथवा एक ही गोत्र के लोगों के लिए नहीं थी। इसीलिए उनकी शिक्षा चातुर्वर्णी विशुद्धि की शिक्षा कहलायी।

वस्तुतः समाज की चातुर्वर्णी व्यवस्था ही दूषित हो गयी थी, अधर्म पर आधारित हो गयी थी। अतः उसे पुनः धर्म पर आधारित करना था, लोक कल्याण के लिए उसकी विशुद्धि करनी थी। पुराने समय के आदर्श के अनुसार विशुद्धचित्त व्यक्ति ही ब्राह्मण कहलाने का अधिकारी होता था। अशुद्धचित्त व्यक्ति ही शूद्र कहा जाता था। यह धर्म पर आधारित व्यवस्था

थी। अतः अत्यंत कल्याणकारिणी थी, परंतु जब से इसमें जातिवाद ने, जन्मवाद ने प्रवेश किया, तब से यह व्यक्ति-व्यक्ति के लिए भी और समस्त समाज के लिए भी हानिकारक बन गयी। व्यष्टि के लिए भी और समष्टि के लिए भी अमंगलकारिणी हो गयी, क्योंकि धर्मविरोधिनी हो गयी। भगवान को इस बिगड़ी हुई चातुर्वर्णी व्यवस्था की शुद्धि अभीष्ट थी, जिससे समाज के सभी लोग शील, समाधि और प्रज्ञा के धर्ममय विशुद्धिमार्ग की ओर आकर्षित हों और उस पर चल कर अपना कल्याण साध लें। यही उनकी चातुर्वर्णी विशुद्धि थी। कोई समझदार व्यक्ति इसका विरोध कैसे कर सकता था भला? हम देखते हैं कि जो भगवान के इस शिव संकल्प को समझ लेते थे, वह तत्काल शुद्ध धर्म का रास्ता अपना लेते थे। परंतु जिन्हें जातिवाद से जकड़े हुए समाज में अपने पेट पालने का और अहं पोषण करने का आधार दीखता था, वे इस विशुद्धिकरण से तिलमिला उठते थे। उनके पांव तले की धरती खिसकने लगती थी, परंतु बुद्ध का कथन तर्कसंगत होता था, अतः ऐसे लोग चाहते हुए भी उनसे विवाद नहीं कर पाते थे। इसलिए वे विवाद कर सकने योग्य किसी अन्य बुद्धिशाली व्यक्ति को ढूंढते थे और उसे विवाद करने के लिए प्रेरित करते थे।

ऐसा ही एक प्रसंग हमारे सामने है -

आश्वलायन

उन दिनों भगवान श्रावस्ती के जेतवन आराम में विहार कर रहे थे। श्रावस्ती में किसी काम से आये हुए पांच सौ ब्राह्मणों ने सुना कि भगवान चातुर्वर्णी शुद्धि का प्रचार कर रहे हैं। उन्हें यह अच्छा नहीं लगा, क्योंकि इससे जाति पर आधारित वर्ण व्यवस्था पर कुठाराघात होता था। वे इस विषय पर भगवान से विवाद स्थापित किया चाहते थे, परंतु स्वयं विवाद कर सकने में असमर्थ थे। अतः वे श्रावस्ती के एक विद्वान युवा ब्राह्मण आश्वलायन के पास गये जो कि वैदिक साहित्य का प्रसिद्ध पंडित था। उन्होंने उसे भगवान से विवाद करने के लिए प्रेरित किया। परंतु आश्वलायन ने उत्तर दिया -

समणो खलु, भो, गोतमो धम्मवादी।

– श्रमण गौतम धर्मवादी हैं यानी वे धर्म की ही बात कहते हैं।

धम्मवादिनो च पन दुप्पटिमन्तिया।

– जो धर्मवादी हैं, उनसे विवाद करना कठिन है।

नाहं सक्कोमि समणेन गोतमेन सद्धिं अस्मिं वचने पटिमन्तेतुं।

(म० नि० २.४०१, अस्सलायनसुत्त)

– मैं इस विषय में श्रमण गौतम से विवाद करने में असमर्थ हूं।

परंतु ब्राह्मणों का बहुत दबाव भरा आग्रह था। इसलिए आश्वलायन भगवान से विवाद करने गया। भगवान से उसका जो कथा-संलाप हुआ, उससे यह सिद्ध हो गया कि जहां तक सत्कर्म और दुष्कर्म के परिणामस्वरूप सत्फल और दुष्फल भोगने का तथा सद्गति या दुर्गति पाने का प्रश्न है – ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र – चारों समान हैं। उनमें कोई भेद नहीं है। प्रकृति उनमें कोई भेद नहीं करती। इन युक्तियों से आश्वलायन हतप्रभ हुआ। वह –

तुण्हीभूतो मङ्कुभूतो पत्तक्खन्धो अधोमुखो पज्झायन्तो अप्पटिभानो निसीदि।

(म० नि० २.४०९, अस्सलायनसुत्त)

– मौन हो, घबड़ाया हुआ, कंधा झुकाए, सिर नीचा किये, उदास, परास्त, अप्रतिभ हो बैठा रह गया।

जहां शुद्ध धर्म की बात होगी, वहां कोई क्या विवाद करेगा भला? किन्हीं के दबाव से विवाद करने चला तो गया, पर शुद्ध धर्म का सामना हुआ तो मूक हो गया।

प्रसेनजित

चातुर्वर्णी विशुद्धि पर कोशलनरेश प्रसेनजित भी भगवान से प्रश्न करने गया। तब भगवान ने यही बात कही कि सांसारिक लोकाचार में ब्राह्मण और क्षत्रिय ये दो भले सम्माननीय और पूजनीय माने जाते हों, इस

क्षेत्र में वे भले अन्य दो से आगे माने जाते हों, परंतु धर्म के क्षेत्र में ऐसा नहीं है। कर्म और कर्मफल चारों वर्णों के समान होते हैं। उनमें न कोई भेद-प्रभेद होता है, न विभिन्नता होती है। इस वार्तालाप से प्रसेनजित अत्यंत प्रसन्न हुआ और बोला –

चातुवण्णिसुद्धिं भगवा ब्याकासि – भगवान ने चातुर्वर्णी शुद्धि बतलायी।

तञ्च पनम्हाकं रुच्चति चेव खमति च – वह हमें रुचिकर लगी, पसंद आयी।

तेन चम्हा अत्तमना – उससे हम संतुष्ट हुए, प्रसन्न हुए।

(म० नि० २.३८२, कण्णकत्थलसुत्त)

चातुर्वर्णी शुद्धि की यह व्याख्या हर समझदार व्यक्ति को रुचती ही थी, भाती ही थी। इस व्याख्या में धर्म की सच्चाई का आधार था, किसी परंपरागत मान्यता का अंधविश्वास नहीं था। इसमें चारों वर्णों के प्रति भगवान की करुणा उमड़ती थी। कहीं किसी संप्रदाय-संस्थापक की स्वार्थांधता की गंध तक नहीं थी। भगवान जीवन भर सारे मानव समाज की भलाई के लिए चारों वर्णों की विशुद्धि में लगे रहे।

पंचवर्गीय भिक्षु

सम्यक संबोधि प्राप्त कर उन्होंने पहला उपदेश अपने पांच संगी-साथियों को दिया। ये पांचों शाक्य प्रदेश से आये हुए ब्राह्मण थे। इनका नेता था कौंडन्य, जो कि उन आठ ब्राह्मण ज्योतिषियों में से एक था, जिन्होंने बोधिसत्त्व सिद्धार्थ गौतम के जन्म पर उसके शरीर लक्षण देख कर भविष्यवाणी की थी। उनमें से सात ने कहा था कि यदि यह गृही रहा, तो चक्रवर्ती सम्राट होगा और गृहत्यागी हुआ, तो खुला-कपाट सम्यक संबुद्ध होगा। लेकिन यह कौंडन्य ही था, जिसने दावे के साथ कहा था कि यह गृहत्यागी होगा और सम्यक संबुद्ध बनेगा।

कौंडन्य उनतीस वर्षों तक धीरजपूर्वक प्रतीक्षा करता रहा। जब उसने देखा कि राजकुमार सिद्धार्थ ने सत्य की खोज में गृह त्याग दिया है तब उसे

बड़ी प्रसन्नता हुई। उसे अपने वैदिक ज्योतिष पर पूरा भरोसा था। उसे विश्वास था कि यह व्यक्ति अवश्य सम्यक संबोधि प्राप्त कर महती लोकसेवा करेगा। लोगों के लिए भवमुक्ति का सही मार्ग आख्यात करेगा। इसके संसर्ग में रहूंगा तो मेरे लिए भी मुक्ति का मार्ग सुलभ हो जाएगा।

राजकुमार के घर त्यागने के बाद कौंडन्य भी अपने चार अन्य साथियों सहित योगी राजकुमार को खोजता हुआ उरुवेल आ पहुँचा। बोधिसत्त्व की छः वर्षों की दुष्कर तपश्चर्या में ये पांचों ब्राह्मण उसके साथ रहे। जब तरुण तपस्वी सिद्धार्थ ने कायदंडन की साधना को निरर्थक और निष्फल देख कर त्याग दिया और आहार ग्रहण करना आरंभ कर दिया तो ये पांचों उसे तपभ्रष्ट मान, निराश होकर ऋषिपत्तन मृगदाय चले गये। सम्यक संबोधि प्राप्त कर तथागत ने धर्मचक्र-प्रवर्तन करने के लिए इन पांचों को ही योग्य पात्र समझा। भगवान की विद्या यानी प्रज्ञा और चरण यानी करुणा का सबसे पहला लाभ इन पांच ब्राह्मणों को मिला। प्रथम उपदेश सुनते-सुनते कौंडन्य के भीतर विरज, विमल धर्मचक्षु खुले। उसने अपने भीतर नाम-रूप के पांच स्कंधों का और उनके उदय-व्यय का अनुभव किया। यह अनुभव करते-करते उसे निरोध अवस्था प्राप्त हुई। निर्वाण का साक्षात्कार हुआ और इस अनुभूति पर उसके भीतर यह परम सत्य जागा –

यं किञ्चि समुदयधम्मं, सब्बं तं निरोधधम्मं।

– (रूप और नाम के क्षेत्र में) जो कुछ समुदय स्वभाव वाला है, वह निरोध स्वभाव वाला भी है।

तथागत के बाद ब्राह्मण कौंडन्य ही प्रथम व्यक्ति था, जिसने निर्वाण का साक्षात्कार किया और भगवान के शिष्यों में पहला स्रोतापन्न बना। भगवान ने भी प्रसन्नता भरे उद्गार प्रकट किये –

अञ्ञासि वत, भो कोण्डञ्ञो, अञ्ञासि वत भो कोण्डञ्ञो।

(महाव० १६, १७, पञ्चवग्गियकथा)

– सचमुच कौंडन्य ने परम सत्य जान लिया है, सचमुच कौंडन्य ने परम सत्य जान लिया है।

पांच दिन बीतते-बीतते पांचों के पांचों ब्राह्मण परम विमुक्त अरहंत अवस्था तक पहुँच गये। परम विमुक्त हुए, तो परम विशुद्ध हुए। ब्राह्मण कुलों में जन्मे हुए पांच व्यक्तियों की विशुद्धि हुई। यह पहली ब्राह्मणवर्णी विशुद्धि थी।

यश और उसके मित्र

तत्पश्चात बोधिसत्त्व को खीर का भोजन दान देने वाली सुजाता और उसके परिवार का भाग्य जागा। वह अपने परिवार सहित वाराणसी में रहती थी। पति व्यापारी था। बहुत धनाढ्य था। इकलौते पुत्र यश को सुख-सुविधा और आमोद-प्रमोद की सारी सहूलियतें उपलब्ध थीं, पर वह बेचैन था। अपार धन-संपदा उसे मानसिक शांति नहीं दे पाती थी। एक रात वह व्याकुल चित्त हो अपने घर से चल पड़ा और मृगदाय वन की ओर आ निकला। उस विकल अवस्था में उसके मुँह से यह दुःख भरे बोल निकल पड़े –

उपद्दुतं वत, भो, उपस्सट्ठं – हाय (मैं) संतप्त, हाय (मैं) पीड़ित।

भगवान मानो उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्होंने उत्तर में आवाज लगायी –

इदं खो, यस, अनुपद्दुतं, इदं अनुपस्सट्ठं – यश, आओ, यहां न संताप है न पीड़ा।

(महाव० २६, पब्बज्जाकथा)

तथागत की वाणी में करुणा-भरा आह्वान था। वह भगवान की ओर खिंचा हुआ चला आया। वहां सचमुच उसका संताप दूर हुआ। पीड़ा दूर हुई। उसने निर्वाण का साक्षात्कार किया और स्रोतापन्न अवस्था प्राप्त की। उसके पीछे-पीछे उसका व्याकुल पिता उसे खोजता हुआ आया। भगवान के उपदेश से उसे भी शांति मिली। वह भी स्रोतापन्न हुआ। जब पिता स्रोतापन्न अवस्था पर पहुँचा, तब पास बैठा हुआ पुत्र ध्यान करते-करते अरहंत अवस्था तक जा पहुँचा। संसार में यह पहला व्यक्ति था, जो गृहस्थ वेश में ही अरहंत हुआ। दूसरे दिन उसे भगवान के हाथों प्रव्रज्या मिली। यश के

पिता के आमंत्रण पर दोनों उसके घर भोजन के लिए गये। वहां यश की माता सुजाता और उसकी पूर्व भार्या भी भगवान के उपदेश सुनते-सुनते स्रोतापन्न हुयीं। यों सुजाता के सारे परिवार को आर्य बना कर मानो भगवान ने उसकी खीर का कर्ज चुकाया। यश के माता-पिता और पूर्वपत्नी भगवान के प्रथम गृहस्थ शिष्य हुए। यश की प्रव्रज्या और धर्म-लाभ की चर्चा लोगों में फैली। वाराणसी और उसके आस-पास रहने वाले उसके चौवन स्नेही मित्र भगवान की शरण आ आये और सभी प्रव्रजित होकर अरहंत अवस्था को प्राप्त हुए।

वैश्य वर्ण के लोगों की शुद्धि का यह श्रीगणेश हुआ।

धर्मचारिका

ब्राह्मण समाज से आये हुए पांच पंचवर्गीय भिक्षु और वैश्य समाज से आये पचपन भिक्षु यों साठों अरहंतों को धर्म-दूत बना कर **चरथ भिक्खवे चारिकं** का आदेश देकर भगवान ने उन्हें दिशाओं, अनुदिशाओं में भेजा। सभी अनुकंपाभरे चित्त से **बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय** चातुर्वर्णी शुद्धि में लग गये।

भद्रवर्गीय कुमार

भगवान स्वयं उरुवेल की ओर निकल पड़े। राह में कुछ देर के लिए वे वनखंड में एक वृक्ष के नीचे विश्राम के लिए बैठे। वहां तीस भद्र-वर्गीय कुमार भगवान से मिले। वे उस वेश्या की खोज कर रहे थे, जो उन्हें शराब के नशे में चूर कर उनके बहुमूल्य वस्त्राभूषण लेकर चंपत हो गयी थी। उन्होंने भगवान से पूछा – "भंते, क्या आपने इस ओर किसी स्त्री को जाते हुए देखा?" भगवान ने प्रतिप्रश्न किया –

तं किं मञ्ञथ वो, कुमारा, कतमं नु खो तुम्हाकं वरं, यं वा तुम्हे इत्थिं गवेसेय्याथ, यं वा अत्तानं गवेसेय्याथाति।

– हे कुमारो, तुम्हारे लिए क्या उत्तम है, उस स्त्री को ढूंढना या अपने आपको ढूंढना?

उन्होंने कहा –

एतदेव, भन्ते, अम्हाकं वरं, यं मयं अत्तानं गवेसेय्याम।

(महाव० ३६, भद्दवग्गियवत्थु)

– भंते, अपने आपको ढूंढना ही हमारे लिए अधिक उत्तम है।

भगवान ने उन्हें अपने आपको जानने की विपश्यना विद्या सिखायी, जिससे वे भवमुक्त हुए।

यह उनकी चातुर्वर्णी शुद्धि का एक और मोड़ था। ये तीसों कुमार क्षत्रिय समाज से आये थे। अतः इससे क्षत्रियवर्ण की शुद्धि का प्रारंभ हुआ।

काश्यप बंधु

उरुवेल पहुँच कर उरुवेल काश्यप, नदी काश्यप और गया काश्यप इन तीन ब्रह्म-बंधुओं के साथ निरर्थक कर्मकांडों में उलझे हुए उनके एक हजार जटाधारी ब्राह्मण परिव्राजकों को मुक्ति का मार्ग दिखा कर ब्राह्मणवर्णी विशुद्धि को आगे बढ़ाते हुए भगवान काश्यप मंडली के साथ राजगृह पहुँचे। वहां राजा बिंबिसार सहित नगर के सभी वर्णों के लोग धर्ममयी विशुद्धि से लाभान्वित हुए।

शूद्रातिशूद्रों की विशुद्धि, विमुक्ति

जन्म पर आधारित चातुर्वर्णी व्यवस्था से सारा समाज व्याधिग्रस्त था। शूद्र के नाम से पुकारा जाने वाला एक बड़ा भाग अत्यंत दीन-हीन अवस्था में जीने के लिए मजबूर कर दिया गया था। मेहनत, मजदूरी करने वाले, जैसे कुम्हार आदि कर्मकार जो शूद्र माने जाते थे, नीच कुल के थे। उनके लिए उच्चवर्ण वालों का स्पर्श भी वर्जित था।

यह दूषित व्यवस्था सदियों पहले से चली आ रही थी। एक ब्राह्मण और एक शूद्र मित्र होने पर भी परस्पर स्पर्श नहीं करते थे। पूर्वकाल की एक घटना हमारे सामने है।

ब्राह्मण माणवक ज्योतिपाल और शूद्र कुम्हार घटीकार मित्र थे। दोनों किसी नदी में नहाने गये। नहाने के पश्चात कुम्हार ने ब्राह्मण माणवक के कमर में पहने कपड़े को पकड़ कर समीप के एक विहार में चलने के लिए आग्रह किया। माणवक को यह अच्छा नहीं लगा। उसने अपना –

ओवट्टिकं विनिवट्टेत्वा – कपड़ा छुड़ा कर

कहा – नहीं।

मित्र कुम्हार उसे उस पवित्र विहार में ले जाना चाहता था जहां उसे शुद्ध धर्म सुनने को मिले और उसका कल्याण हो। अतः उसने पुनः आग्रहपूर्वक, प्यार से –

जोतिपालं माणवं सीसंन्हातं केसेसु परामसित्वा

– नहाये हुए ज्योतिपाल माणवक के सिर के बालों पर हाथ फेर कर थपथपाते हुए –

चलने का आग्रह किया।

तव ज्योतिपाल के मन में यह चिंतन जागा –

अच्छरियं वत भो, अब्भुतं वत भो – अरे, आश्चर्य है, अद्भुत है,

यत्र हि नामायं घटिकारो कुम्भकारो – जो यह घटिकार कुम्हार है,

इत्तरजच्चो समानो – इतर जाति का यानी नीच जाति का होते हुए भी

अम्हाकं सीसंन्हातानं केसेसु – मेरे सिर से नहाये हुए केशों को

परामसितब्बं मञ्ञिस्सति – स्पर्श करके ऐसा चाह रहा है,

(म० नि० २.२८४, घटिकारसुत्त)

तो उसके इस आग्रह में अवश्य कोई सार होगा।

स्पष्ट है कि नहा-धोकर स्वच्छ हुआ एक शूद्र यदि मित्र हो तो भी किसी ब्राह्मण के कपड़ों को और शरीर को छूने की धृष्टता नहीं कर सकता था।

यह अवस्था थी शूद्रों की। पर समाज में जो शूद्रातिशूद्र थे, अंत्यज थे, जैसे कि कोई मातंग हो, निषाद हो, पुक्कुस हो, वृषल हो, श्वपच हो, चांडाल हो, भंगी हो, चमार हो, उनकी तो और भी अधिक दुरवस्था थी। किसी सवर्ण द्वारा उसे छूआ जाना तो दूर, देखा जाना तक बुरा माना जाता था।

हमारे सामने एक दृश्य आता है। सारिपुत्त ने किसी प्रसंग में अपनी सफाई देते हुए एक ऐसा उदाहरण दिया जिससे उन अंत्यजों की बुरी अवस्था का चित्र हमारे सामने उभरता है। उन्होंने कहा –

सेय्यथापि भन्ते – भंते, जैसे

चण्डालकुमारको वा चण्डालकुमारिका वा – कोई चांडाल कुमार हो अथवा चांडाल कुमारी हो।

कळोपिहत्थो – जिसके हाथ में गंदगी ढोने या उठाने की टोकरी हो,

नन्तकवासी – जो अर्धनग्न हो यानी जिसके पास शरीर ढकने के लिए पूरे वस्त्र भी न हों,

जव वे किसी सेवा कार्य के लिए –

गामं वा निगमं वा पविसन्तो – गांव या नगर में प्रवेश करते हैं, (अर्थात वे आज की ही भांति गांव, नगर के वाहर रहते हैं) तो –

नीचचित्तंयेव उपट्ठपेत्वा पविसति – हीन ग्रंथि से ग्रसित चित्त लिए हुए ही प्रवेश करते हैं।

(अ० नि० ३.९.११, सीहनादसुत्त)

अर्थात इस आशंका से सहमे हुए, भयभीत हुए-से प्रवेश करते हैं कि उनसे कोई भूल न हो जाय, वे गलती से किसी को छू न लें, उन्हें कोई सवर्ण व्यक्ति देख तक न ले और उन्हें दुत्कार न दे, फटकार न दे।

इस प्रकार जो समाज की प्रमुख धारा से पूरी तरह कटे हुए अत्यंत दीन-हीन, दलित-दमित, पीड़ित-संतापित, भयग्रस्त-संत्रस्त शूद्रातिशूद्र थे, उनकी विशुद्धि, विमुक्ति के लिए, उनके उत्थान के लिए भी भगवान प्रयत्नशील हुए।

सोपाक

सोपाक नाम का चांडाल पुत्र चार माह की अवस्था में ही अनाथ हो गया। पिता चल बसा। चाचा ने बड़े बेमन से उसे पाला। गरीबी के कारण बालक उसके लिए बोझ-स्वरूप था। चाचा बड़े क्रुद्ध स्वभाव का था। इस अनाथ बच्चे के कारण उसका चिड़चिड़ापन बढ़ता चला गया। सोपाक जब सात वर्ष का हुआ, तो किसी एक अप्रिय घटना को लेकर चाचा उसे श्मशान ले गया और एक मुर्दे शव के साथ निर्दयतापूर्वक बांध दिया, ताकि मुर्दे को खाते हुए सियार उसे भी चीर-फाड़ कर खा जायँ। बच्चे के करुण-क्रंदन का उस पाषाण-हृदय पर कोई असर नहीं हुआ। परंतु भगवान ने यह घटना देखी, तो करुणा-विगलित होकर सोपाक को छुड़ा कर विहार में ले आये। वहीं उसकी प्रव्रज्या और फिर उपसंपदा हुई। आगे चल कर सोपाक विपश्यना-साधना द्वारा अरहंत हुए। उस समय के उनके उद्गार हैं –

जातिया सत्तवस्सोहं, लद्धान उपसम्पदं – जीवन के सातवें वर्ष में मुझे उपसंपदा मिली।

धारेमि अन्तिमं देहं,

– आज मैं जीवन्मुक्त हूं, क्योंकि यह मेरा अंतिम शरीर है। अब पुनर्जन्म होने वाला नहीं है।

अरहंत सोपाक की वाणी में प्रसन्नता और कृतज्ञता झलक पड़ी जब उन्होंने कहा –

अहो धम्मसुधम्मता – अहो! धर्म की सुधर्मता तो देखो!

(थेरगा० ४८६, सोपाकत्थेरगाथा)

यहीं राजगृह में एक और महत्वपूर्ण घटना घटी।

सुनीत

राजगृह का सुनीत नामक भंगी भगवान के संपर्क में आया। प्रातःकाल भगवान भिक्षु संघ के साथ भिक्षा के लिए निकले थे। सुनीत सड़क पर झाड़ू लगा रहा था। भगवान को आते देख झाड़ू छोड़, हाथ जोड़ कर एक ओर

खड़ा हो गया। उस पर भगवान की करुण-दृष्टि पड़ी। पूर्व जन्मों का संचित पुण्य था। अतः सुनीत भगवान द्वारा प्रव्रजित हुआ। साधना की विधि सीख कर वह एकांत में जाकर ध्यान भावना में लग गया। समय पर उसने अरहंत अवस्था प्राप्त की।

मुक्ति के हर्ष में अरहंत सुनीत ने यह उदान यानी हर्षोद्गार प्रकट किया –

नीचे कुलम्हि जातोहं, दलिद्दो अप्पभोजनो। (थेरगा० ६२०, सुनीतत्थेरगाथा)

– मैं भूखा, गरीब, नीच कुल में जन्मा,

भूखे और दरिद्र सुनीत की भगवान ने धर्म विशुद्धि की, तो वे ब्राह्मण हो गये, उच्च हो गये, वरेण्य हो गये। रात्रि के प्रथम याम में उन्हें पूर्व जन्मों की स्मृति का ज्ञान हुआ; मध्य रात्रि में दिव्य चक्षु प्राप्त हुए और रात बीतते-बीतते अविद्या का अंधकार विदीर्ण हुआ, अनेक जन्मों के आस्रव क्षय हुए। यह देख कर उन्होंने कहा –

इन्दो ब्रह्मा च आगन्त्वा, मं नमस्सिंसु पञ्जली।

(थेरगा० ६२८, सुनीतत्थेरगाथा)

– देवराज इंद्र और ब्रह्मा ने आकर अंजलिबद्ध हो मेरी वंदना की –

नमो ते पुरिसाजञ्ञ, नमो ते पुरिसुत्तम। (थेरगा० ६२९, सुनीतत्थेरगाथा)

– तुम्हें नमस्कार है, हे श्रेष्ठ पुरुष, तुम्हें नमस्कार है, हे उत्तम पुरुष।

शास्ता ने उन्हें यों देवमंडली से घिरे हुए देखा, तो मुस्करा कर कहा –

तपेन ब्रह्मचरियेन, संयमेन दमेन च – तप से, ब्रह्मचर्य से, संयम से और दम से –

एतेन ब्राह्मणो होति, एतं ब्राह्मणमुत्तमं – इनसे ब्राह्मण होता है। यही ब्राह्मण उत्तम है।

(थेरगा० ६३१, सुनीतत्थेरगाथा)

सचमुच यही उत्तम ब्राह्मण है।

चातुर्वर्णी विशुद्धि की यह पराकाष्ठा थी। धन्य हुई भगवान की चातुर्वर्णी विशुद्धि। समाज के सबसे अधिक दलित, पीड़ित और अभिशप्त

लोग जन्म से मृत्यु तक **दलिद्दो अप्पभोजनो** ही बने रहने के लिए मजबूर कर दिये गये थे। उच्च वर्ण के लोगों की निम्न से निम्न सेवा करते हुए भी उन्हें बदले में अपमान, दुत्कार और दुःख-दैन्य ही मिलता था। यह पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता आ रहा था। इस तरह उदासी, निराशा और कुंठा का जीवन जीने वालों को धर्म ने हीनभावना से बाहर निकलने का मार्ग बताया।

इस प्रकार चातुर्वर्णी विशुद्धि का काम शुरू हुआ और दिनों-दिन आगे बढ़ने लगा। धर्म का सार्वजनीन स्वरूप लोगों की समझ में आने लगा और उन्हें आकर्षित करने लगा।

सभी नरोत्तम

जो धर्म को जान जायँ यानी धारण कर लें, वे स्वतः नरोत्तम बन जाते हैं।

हीनजच्चोपि चे होति, उट्ठाता धितिमा नरो।
आचारसीलसम्पन्नो, निसे अग्गीव भासति॥

(जा० १.१५.१५७, चूळहंसजातक)

– हीन परिवार में जन्म लेने वाला व्यक्ति भी यदि उद्योगी है, धृतिमान है, आचारसंपन्न है, शील-संपन्न है, तो वह ऐसे प्रकाशमान होता है, जैसे अंधेरी रात में अग्नि।

लोगों को यह खूब समझ में आने लगा कि प्रधानता गुणों की है; जाति, जन्म की नहीं।

खत्तिया ब्राह्मणा वेस्सा, सुद्दा चण्डालपुक्कुसा।
यम्हा धम्मं विजानेय्य, सो हि तस्स नरुत्तमो॥

(जा० १.१३.८, अम्बजातक)

– चाहे वह क्षत्रिय हो या ब्राह्मण, चाहे वैश्य हो या शूद्र, चांडाल या अंत्यज; जिस किसी से भी धर्म का सही स्वरूप समझा जा सके, वही उत्तम पुरुष है।

ऐसा व्यक्ति वंदनीय है, वरेण्य है, पूजनीय है, प्रणम्य है।

धर्म के इस शुद्ध, सार्वजनीन स्वरूप को स्वीकार कर लेने में ही सबका कल्याण निहित है। धर्म वह जो कुदरत का कानून है, जो सब पर एक जैसा लागू होता है, जो किसी का पक्षपात नहीं करता।

सब्बे वण्णा अधम्मट्ठा, पतन्ति निरयं अधो।

– सभी वर्ण के लोग यदि अधर्मिष्ठ होते हैं यानी पापाचारी होते हैं, तो नरक में ही गिरते हैं।

सब्बे वण्णा विसुज्झन्ति, चरित्वा धम्ममुत्तमं। (जा० २.२२.४३९, निमिजातक)

– और सभी वर्ण के लोग धर्म का आचरण करके विशुद्ध हो जाते हैं, विमुक्त हो जाते हैं।

धारण किया धर्म हर किसी व्यक्ति को विशुद्ध कर देता है, विमुक्त कर देता है। तभी कहा गया –

कम्मं विज्जा च धम्मो च, सीलं जीवितमुत्तमं।
एतेन मच्चा सुज्झन्ति, न गोत्तेन धनेन वा॥

(सं० नि० १.१.४८, जेतवनसुत्त)

– कर्म से, विद्या से, धर्म से, शील से और उत्तम जीवन से ही मर्त्य मानव विशुद्ध होता है, विमुक्त होता है; न कि गोत्र से अथवा धन से।

शुद्ध सार्वजनीन धर्म बहुत स्पष्ट था। इसी कारण सभी वर्णों और गोत्रों के अनेक लोगों ने, धनियों ने, निर्धनों ने – सभी ने इसे अपनाया। फिर भी कुछ लोग ऐसे थे ही –

जातित्थद्धो धनत्थद्धो, गोत्तत्थद्धो च यो नरो। (सु० नि० १०४, पराभवसुत्त)

– जो (लोग) जाति, धन या गोत्र के नशे में चूर थे।

प्रकृति का यह सामान्य नियम उनकी समझ में नहीं आया। जिनकी समझ में आया, वे शीघ्र धर्म के मार्ग पर चल पड़े। पंचवर्गीय भिक्षुओं के तथा काश्यप बंधुओं के अतिरिक्त ब्राह्मण मूल के सारिपुत्त, महामोग्गल्लान तथा महाकाश्यप जैसे मेधावी लोग शीघ्र धर्म की गंगा में डुबकी लगा कर निहाल हुए और भगवान के प्रमुख शिष्य हुए। तदनंतर ब्राह्मण वर्ग के लोग बहुत बड़ी संख्या में उनकी शरण में आने लगे।

उपालि

क्षत्रियों में भी जाति-गर्व कम नहीं था। सूर्यवंशीय इक्ष्वाकु कुल के शाक्य और कोलिय क्षत्रियों में यह जात्यभिमान कूट-कूट कर भरा पड़ा था। परंतु भगवान की शिक्षा का ऐसा प्रभाव पड़ा कि जब भद्दिय, अनिरुद्ध, आनंद, भृगु, किम्बिल और देवदत्त – ये छः शाक्य राजकुमार अपने नाई उपालि के साथ प्रव्रजित होने के लिए भगवान की शरण आये, तो उन्होंने भगवान से प्रार्थना की कि पहले उपालि नाई को प्रव्रज्या दी जाय। यह इसलिए कि प्रव्रज्या में अग्र होने के कारण शाक्य कुमारों को उसे नमन करना पड़ेगा और इससे उनका अहंकार टूटेगा। धन्य है भगवान की चातुर्वर्णी शुद्धि की शिक्षा जो जाति के गहरे नशे में डूबे हुए शाक्यकुमारों का अभिमान तोड़ने में सहायक हुई।

विरोध भी हुआ

परंतु कई लोगों को इस चातुर्वर्णी शुद्धि की महत्ता स्वीकार करने में कठिनाई हुई। यदि सचमुच कर्मों के आधार पर वर्णों की अवस्थिति मान ली जाय तो उन्हें बड़ी चोट लगती थी। शुद्ध धर्म की चर्चा भले कोई चाहे कितनी करे, लेकिन लौकिक व्यवहार क्षेत्र में तो ब्राह्मण और क्षत्रिय ही पूज्य थे, वरेण्य थे। चाहे वे शील-गुणहीन ही क्यों न हों। और शूद्र अनादर के ही पात्र थे, चाहे वे शील, गुण और ज्ञान प्रवीण क्यों न हों। अतः ऐसे स्वार्थांध लोगों को सुधारने के लिए भगवान को अथक परिश्रम करना पड़ा। धर्म से पथभ्रष्ट हुए ऐसे लोगों पर उनकी विशेष करुणा उमड़ी।

मिथ्या जाति अभिमान

तत्कालीन भारतीय समाज में ब्राह्मण वर्ण के अनेक लोगों में जातिगत अभिमान चरम सीमा पर पहुँचा हुआ था। अन्य वर्णों के प्रति उनका व्यवहार केवल अनुदार ही नहीं, बल्कि उद्दंड और अभद्र भी था। इसका

स्पष्ट उदाहरण हम ब्राह्मण माणवक अंबष्ठ द्वारा भगवान बुद्ध के प्रति प्रदर्शित अशिष्ट व्यवहार में देखते हैं।

अंबष्ठ माणवक

भगवान भिक्षु संघ के साथ कोशल देश की चारिका करते हुए इच्छानंगल नामक ब्राह्मणग्राम में पहुँचे और इच्छानंगल वनखंड में टिके। इच्छानंगल के प्रमुख ब्राह्मण पुष्करसाति ने जब यह सुना कि बत्तीस महापुरुष लक्षणों से परिपूर्ण भगवान बुद्ध उसके प्रदेश में पधारे हैं, तो उसने अपने युवा शिष्य अंबष्ठ माणवक को भगवान के पास यह देखने के लिए भेजा कि जैसी उनकी कीर्ति फैली है, क्या –

यदि वा सो भवं गोतमो तादिसो, यदि वा न तादिसो। – वह गौतम वैसे ही हैं अथवा नहीं।

इसे भली प्रकार जांचो,

तथा मयं तं भवन्तं गोतमं वेदिस्साम – जिससे कि गौतम जैसे हैं, हम उन्हें वैसे जानें। (दी० नि० १.२५७, अम्बट्ठसुत्त)

जांचने वाले का अहं भाव लेकर अंबष्ठ वहां पहुँचा जहां भगवान ठहरे थे। भगवान अपनी कुटी में एकांतवासी थे। अंबष्ठ ने उनकी कुटी का कुंडा खटखटाया। भगवान ने दरवाजा खोल दिया। वह भगवान से वार्तालाप करने लगा। जब भगवान बैठे हों तब खड़े-खड़े और जब भगवान खड़े हों, तब बैठे-बैठे प्रश्न करने लगा।

भगवान ने उसे सामान्य शिष्टाचार याद दिलाते हुए पूछा – हे अंबष्ठ, क्या वृद्ध आचार्य, प्राचार्य ब्राह्मणों के साथ तुम्हारा ऐसा ही कथा-संलाप होता है, जैसा कि तुम इस समय मुझसे कर रहे हो?

अंबष्ठ ने कहा – नहीं, हे गौतम, चलते ब्राह्मण के साथ चलते हुए, बैठे हुए के साथ बैठे हुए, खड़े के साथ खड़े हुए और लेटे के साथ लेटे हुए ही बातचीत करनी चाहिए। परंतु –

ये च खो ते, भो गोतम, मुण्डका समणका इब्भा कण्हा बन्धुपादापच्चा,

– हे गौतम, जो मथमुंडे श्रमण हैं, जो इब्भ हैं यानी नीच हैं, काले हैं, ब्रह्मा के पैर से उपजे हैं,

तेहिपि मे सद्धिं एवं कथासल्लापो होति – उनके साथ मेरा ऐसा ही कथा-संलाप होता है,

यथरिव भोता गोतमेन – जैसे कि आप गौतम के साथ हो रहा है।

(दी० नि० १.२६३, अम्बट्ठसुत्त)

यह सुन कर भगवान ने कहा कि जिस काम के लिए तुम आये हो, उसी पर ध्यान दो तो अच्छा हो, क्योंकि शिष्टाचार-संबंधी तुम्हारी शिक्षा अधूरी है।

यह सुन कर अंबष्ठ बहुत तिलमिलाया,

कुपितो अनत्तमनो – कुपित हुआ, अप्रसन्न हुआ।

भगवन्तंयेव खुंसेन्तो – भगवान को ही नीचा दिखाते हुए,

भगवन्तंयेव वम्भेन्तो – भगवान के प्रति ही घृणा प्रकट करते हुए,

भगवन्तंयेव उपवदमानो – भगवान को ही अपशब्द द्वारा अपमानित करते हुए,

समणो च मे, भो, गोतमो पापितो भविस्सति – श्रमण गौतम मेरे लिए पापी है, दुष्ट है,

यों सोचते हुए और अपना क्रोध समस्त शाक्य जाति पर निकालते हुए बोला –

चण्डा, भो गोतम, सक्यजाति – हे गौतम, शाक्य जाति चंड है;

फरुसा, भो गोतम, सक्यजाति – शाक्य जाति कठोरभाषी है;

लहुसा, भो गोतम, सक्यजाति – हे गौतम, शाक्य जाति ओछी है, क्षुद्र है;

भस्सा, भो गोतम, सक्यजाति – हे गौतम, शाक्य जाति बकवास करने वाली है;

इब्भा सन्ता इब्भा समाना – शाक्य नीच और निकृष्ट होते हुए भी,

न ब्राह्मणे सक्करोन्ति, न ब्राह्मणे गरुं करोन्ति, न ब्राह्मणे मानेन्ति, न ब्राह्मणे पूजेन्ति, न ब्राह्मणे अपचायन्ति।

– वे न ब्राह्मणों का सत्कार करते हैं, न उनका गुरुकार करते हैं, न उनका सम्मान करते हैं, न उन्हें पूजते हैं, न उनका आदर करते हैं।

तयिदं, भो गोतम, नच्छन्नं, तयिदं नप्पतिरूपं, यदिमे सक्या इब्भा सन्ता इब्भा समाना न ब्राह्मणे सक्करोन्ति...। (दी० नि० १.२६४, अम्बट्ठसुत्त)

– सो हे गौतम, यह न उचित है, न योग्य है कि ये शाक्य नीच और निकृष्ट होते हुए भी ब्राह्मणों का आदर सत्कार न करें...।

ब्राह्मण ही महान है, इस अंधमान्यता के नशे में वह इतना चूर था कि उद्दंडतापूर्वक बोला –

चत्तारोमे, भो गोतम, वण्णा – खत्तिया, ब्राह्मणा, वेस्सा, सुद्दा।

– हे गौतम, वर्ण चार होते हैं – क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र।

इमेसं हि, भो गोतम, चतुन्नं वण्णानं तयो वण्णा – खत्तिया च वेस्सा च सुद्दा च – अञ्ञदत्थु ब्राह्मणस्सेव परिचारका सम्पज्जन्ति।

(दी० नि० १.२६६, अम्बट्ठसुत्त)

– हे गौतम, इन चार वर्णों में क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र – ये तीनों वर्ण निश्चित रूप से ब्राह्मण की सेवा परिचर्या के लिए ही हैं।

वर्णवादियों की यह दूषित, मिथ्या मान्यता लोगों के मन में गहराई से घर कर गयी थी। विशेषकर ब्राह्मणों के उस एक नासमझ समुदाय में, जो इस मिथ्या मान्यता के कारण मन ही मन गौरव महसूस करता था। युवा ब्राह्मण अंबष्ठ उस वर्ग का ही प्रतिनिधित्व करता था। भगवान ने करुणापूर्वक उसका अभिमान मर्दन करने के लिए पूछ लिया कि उसका गोत्र क्या है।

अंबष्ठ ने बताया – **कण्हायनं** यानी कृष्णायन।

इस पर भगवान ने पुरानी ऐतिहासिक घटना का उल्लेख करते हुए कहा कि इस गोत्र का आदिपुरुष काण्ह यानी कृष्ण शाक्यों के आदिपुरुष सूर्यवंशी महाराज इक्ष्वाकु का दासी से उत्पन्न पुत्र था। अंबष्ठ भी इस सच्चाई को खूब जानता था कि उनके गोत्र का आदिपुरुष दासीपुत्र था। बड़े बेमन से अंततः उसने इस तथ्य को स्वीकार किया। स्वीकारते ही उसके साथ आये हुए अन्य माणव ब्राह्मण विद्यार्थी अंबष्ठ को धिक्कारने लगे-

दुज्जातो किर, भो, अम्बट्ठो माणवो - अंबष्ठ माणवक दुर्जात है।

अकुलपुत्तो किर, भो, अम्बट्ठो माणवो - कुलपुत्र नहीं है अंबष्ठ माणवक।

दासिपुत्तो किर, भो, अम्बट्ठो माणवो सक्यानं - अंबष्ठ माणवक शाक्यों का दासीपुत्र है।

अय्यपुत्ता किर, भो, अम्बट्ठस्स माणवस्स सक्या भवन्ति।

(दी० नि० १.२७३, अम्बट्ठसुत्त)

- शाक्य अंबष्ठ माणवक के स्वामीपुत्र हैं।

अपने ही संगी-साथियों द्वारा इस प्रकार धिक्कारे जाने पर हतप्रभ हुए अंबष्ठ को देख कर भगवान के मन में उसके प्रति अपार करुणा जागी।

अतिबाळ्हं खो इमे माणवका अम्बट्ठं माणवं दासिपुत्तवादेन निम्मादेन्ति,

- माणवक अंबष्ठ को दासीपुत्र कह कर ये इसे बहुत नीचा दिखा रहे हैं,

यंनूनाहं परिमोचेय्यं - क्यों न मैं इसे बचाऊं, छुड़वाऊं।

तब भगवान ने अन्य ब्राह्मण माणवों को ऐसा करने से रोकते हुए कहा कि काण्ह (कृष्ण) कोई साधारण व्यक्ति नहीं था। वह महान योगी था। उसने योग बल से महाराज इक्ष्वाकु को निष्प्रभ करके उनकी पुत्री से विवाह कर लिया था। उन्हीं की संतान ये कृष्णायनगोत्री ब्राह्मण हैं।

मा खो तुम्हे, माणवका अम्बट्ठं माणवं अतिबाळ्हं दासिपुत्तवादेन निम्मादेथ।

- हे माणवको, तुम अंबष्ठ माणवक को दासीपुत्र कह कर अधिक नीचा मत दिखाओ।

उळारो सो कण्हो इसि अहोसि - वह कृष्ण महान ऋषि थे।

(दी० नि० १.२७४, अम्बट्ठसुत्त)

तत्पश्चात जातिवाद, गोत्रवाद को गलत सावित करते हुए भगवान ने ब्रह्मा सनत्कुमार के पुरातन बोल उद्धृत किये और उनका समर्थन किया।

खत्तियो सेट्ठो जनेतस्मिं, ये गोत्तपटिसारिनो।

- जो गोत्र का आधार लेकर चलते हैं, उनमें क्षत्रिय श्रेष्ठ हैं।

जब कि दूसरी ओर ब्राह्मण अपने आपको क्षत्रियों से अधिक श्रेष्ठ मानते थे।

यह वह युग था, जब कि ब्राह्मणों और क्षत्रियों में इस बात की होड़ थी कि दोनों में श्रेष्ठतर कौन है। पर ब्राह्मण हो या क्षत्रिय - थी तो बात गोत्र की ही, वर्ण की ही, जाति की ही। आवाह-विवाह के क्षेत्र तक तो यह बात कुछ अंश में संगत भी लगती है, क्योंकि एक प्रकार की धरती पर और एक प्रकार के वातावरण में उगा, पला पौधा उखाड़ कर कहीं और रोपा जाय, तो उसके जमने के लिए धरती और वातावरण का लगभग वैसा ही होना आवश्यक होता है। इसी प्रकार आवाह-विवाह में जो बहू या बेटी जहां जन्मी पली है, उस पीहर को छोड़ कर आती है या जाती है, तो उसके लिए ससुराल का सारा वातावरण लगभग वैसा ही होना चाहिए। पर यह तो आवाह-विवाह की बात हुई। धर्मक्षेत्र तो सर्वथा भिन्न है। यहां न क्षत्रिय को महत्त्व है, न ब्राह्मण को, न वैश्य को, न शूद्र को। धर्म के क्षेत्र में तो-

विज्जाचरणसम्पन्नो, सो सेट्ठो देवमानुसे। (दी० नि० १.२७७, अम्बट्ठसुत्त)

- जो विद्या में और आचरण में यानी शील-सदाचार में और प्रज्ञा-विपश्यना में संपन्न हो, वह सभी देवमनुष्यों में श्रेष्ठ है।

जो ब्रह्मा सनत्कुमार ने कहा, वही भगवान तथागत ने कहा। विद्याचरणसंपन्न होने के लिए जाति-विशेष में जन्म लेना अनिवार्य नहीं

होता। जो शील-समाधि का अभ्यास करके, प्रज्ञा-विपश्यना में स्थित हो जाता है, वही विद्याचरणसंपन्न हो जाता है, परंतु –

पहाय खो, अम्बट्ठ, जातिवादविनिवद्धञ्च गोत्तवादविनिवद्धञ्च मानवादविनिवद्धञ्च आवाहविवाहविनिवद्धञ्च अनुत्तराय विज्जाचरणसम्पदाय सच्छिकिरिया होति। (दी० नि० १.२७८, अम्बट्ठसुत्त)

– हे अंबष्ठ, कोई व्यक्ति जातिवाद की, गोत्रवाद की, आवाह-विवाह की और अहंमन्यता की जकड़न को छोड़ कर ही श्रेष्ठ विद्याचरण संपदा का यानी निर्वाण का साक्षात्कार कर सकता है। ये सभी जकड़नें धर्म के क्षेत्र में बाधक हैं।

तदनंतर भगवान ने विद्याचरण का यानी शील, समाधि और प्रज्ञा का विशद वर्णन किया और पुराने जमाने के विद्याचरणसंपन्न ब्राह्मणों की अनेक बातें बतायीं, जिन्हें सुन कर अंबष्ठ जैसा उद्दंड व्यक्ति भी नतमस्तक हो गया। उसने भगवान के शरीर पर बत्तीस महापुरुष लक्षण देखे और लौट कर अपने आचार्य पुष्करसाति को उनका सही-सही विवरण दिया।

उन दिनों देश में जहां अंबष्ठ जैसे अनुदार, दकियानूसी और अहंकारी ब्राह्मण थे, वहां समझदार ब्राह्मण भी पर्याप्त संख्या में थे, जो शुद्ध धर्म की नैसर्गिक, सही और सार्वजनीन व्याख्या सुन कर उस ओर तत्काल आकर्षित हो जाते थे। ब्राह्मण पुष्करसाति उनमें से एक था, जिसने अपने माणवक अंबष्ठ की भगवान से हुई वार्त्ता का पूर्ण विवरण सुना तो बहुत ही प्रभावित हुआ। प्राचीन काल के ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का वर्णन सुन कर आचार्य पुष्करसाति को वर्तमान ब्राह्मणों की दयनीय दशा पर बड़ी लज्जा आयी। उसने कहा –

अहो वत रे अम्हाकं पण्डितक, अहो वत रे अम्हाकं बहुस्सुतक, अहो वत रे अम्हाकं तेविज्जक। (दी० नि० १.२९१, अम्बट्ठसुत्त)

– अरे वाह रे, हमारे तथाकथित पण्डित, अरे वाह रे, हमारे बहुश्रुत विद्वान, अरे वाह रे, हमारे त्रैविद्य (तीनों वेदों के ज्ञाता)।

धिक्कार है हमारी इस त्रैविद्यता को। यदि हमने विद्या और आचरण का अभ्यास नहीं किया तो मरणोपरांत हमारी दुर्गति निश्चित है। यह कह ब्राह्मण पुष्करसाति भगवान के पास गया। माणवक अंबष्ठ का भगवान के साथ जो कथा-संलाप हुआ उसे भगवान के मुँह से भी उसने सुना और तब उसने बड़े दीन भाव से भगवान से प्रार्थना की –

बालो, भो गोतम, अम्बट्ठो माणवो – हे गौतम, बालक है यानी अज्ञानी है अंबष्ठ माणवक।

खमतु भवं गोतमो अम्बट्ठस्स माणवस्स – क्षमा करें, हे गौतम, अंबष्ठ माणवक को।

अपने शिष्य की उद्दंडता के कारण गुरु ने उसकी ओर से भगवान से क्षमा मांगी। भगवान की विद्या यानी प्रज्ञा ने गुरु-शिष्य के मन की सच्चाई जानी और उनके आचरण यानी करुणा ने क्षमादान देते हुए कहा –

सुखी होतु, ब्राह्मण, अम्बट्ठो माणवो। (दी० नि० १.२९३, अम्बट्ठसुत्त)

–हे ब्राह्मण, (तुम्हारा शिष्य) अंबष्ठ माणवक सुखी हो।

अग्गिक भारद्वाज

उन दिनों भगवान श्रावस्ती में विहार कर रहे थे। वे एक दिन भिक्षाटन के लिए निकले। घर-घर भिक्षा मांगते हुए जब अग्गिक भारद्वाज के घर के सामने पहुँचे, तब वह हव्य (यज्ञ) की तैयारी कर रहा था। उसने तथागत को आते हुए देखा तो श्रमणों से घृणा करने वाला उसके भीतर का अनुदार ब्राह्मणत्व जाग उठा। जात-पांत और छुआछूत का जो भूत उसके सिर पर सवार था, वह मुखरित हो उठा। 'मेरी इस पवित्र यज्ञ-शाला पर कहीं इस अपवित्र श्रमण की छाया न पड़ जाय, मेरा यज्ञ कहीं अशुद्ध न हो जाय', – यह सोच कर वह भगवान को दूर से ही रोकते हुए बोला –

तत्रेव मुण्डक, तत्रेव समणक, तत्रेव वसलक, तिट्ठाहि। (सु० नि०, वसलसुत्त)

– अरे मथमुंड, वहीं रुक। अरे श्रमण, वहीं रुक। अरे नीच वृषल (चांडाल), वहीं रुक।

इन अपमान-भरे शब्दों को सुन कर भगवान के मन में अग्गिक भारद्वाज के प्रति करुणा ही जागी। वाणी में प्यार भर कर उन्होंने पूछा- "हे भारद्वाज, क्या तुम जानते हो कि वृषल कौन होता है? किन कर्मों से कोई व्यक्ति वृषल बन जाता है?"

– "नहीं, हे श्रमण, मैं नहीं जानता।"

"तो सुनो, वृषल बनाने वाले कर्मों के बारे में मैं तुम्हें बताता हूं।"

अग्गिक भारद्वाज उत्सुकतावश सुनने को राजी हो गया। भगवान ने कहा –

– जो व्यक्ति क्रोधी है, झगड़ालू है, पापी है, ईर्ष्यालु है, गलत धारणाओं में पड़ा है और मायावी है;

– जो योनिज अथवा अंडज प्राणियों की हत्या करता है; जिसे प्राणियों के प्रति जरा भी दया नहीं है; जो गांवों और निगमों को घेर कर हत्याएं करता है; जो अत्याचारी के रूप में प्रसिद्ध है;

– जो गांव या अरण्य में औरों की संपत्ति लूटता है; जो ऋण लेकर मुकरता है और मुंह छुपाता है;

– जो राहगीरों को मार कर लूट लेता है; जो धन के लिए झूठी गवाही देता है; जो प्यार से अथवा जबरन अपने मित्रों, बंधुओं की भार्याओं को अपनी बना लेता है; जो धनसंपन्न होने पर भी अपने वृद्ध माता-पिता का भरण-पोषण नहीं करता;

– जो माता-पिता, भाई-बहन या सास-ससुर को दुर्वचनों से पीड़ित करता है; जो सार्थक बात पूछने पर निरर्थक उत्तर देता है; जो लुका-छिपा कर धोखे की वाणी बोलता है; जो दूसरों के घर जाकर माल-मत्ते उड़ाता है और कोई अपने घर आये, तो उसे खाने के लिए पूछता तक नहीं;

– जो श्रमण, ब्राह्मण और याचकों को झूठ बोल कर धोखा देता है; जो भोजन के समय आये हुए श्रमण या ब्राह्मण को कुछ न देकर उन्हें धमकाता है; जो मोह के वशीभूत होकर मनचाही वस्तु पाने के लिए झूठ बोलता है; जो अपनी प्रशंसा करता है और दूसरों की निंदा; जो अपने अभिमान के कारण दूसरों के गुणों को जान ही नहीं पाता; जो रुष्ट है, कंजूस है, पापिष्ठ यानी मलेच्छ है; जो मत्सरी है, शठ है और दुष्कर्म करने से न लजाता है, न भयभीत होता है;

– जो बुद्धों की और उनके परिव्राजक या गृहस्थ श्रावकों की निंदा करता है; ऐसे लोगों को ही वृषल जानो, चांडाल जानो।

– और जो अरहंत नहीं, परंतु अरहंत होने का दिखावा करता है, उस धोखेबाज को तो वृषलों में भी वृषलाधम जानो।

वृषलों की और वृषल बनाने वाले कर्मों की भगवान ने विशद व्याख्या की और फिर कहा –

न जच्चा वसलो होति, न जच्चा होति ब्राह्मणो।

– न जन्म से कोई वृषल होता है और न जन्म से कोई ब्राह्मण होता है।

कम्मुना वसलो होति, कम्मुना होति ब्राह्मणो॥ (सु० नि० १३६, वसलसुत्त)

– अपने कर्मों से ही कोई वृषल होता है, अपने कर्मों से ही ब्राह्मण।

वृषल यानी चांडाल कहलानेवाला व्यक्ति भी सद्धर्म धारण करे, तो वह यहां भी सुखी होता है और मरने पर उसे देव या ब्रह्मलोक जाने से कोई नहीं रोक सकता। इसी प्रकार ब्राह्मण कहलानेवाला व्यक्ति दुष्कर्म करे, तो यहां भी दुःखी होता है और मरने पर अधोलोक की ओर जाने से उसे कोई नहीं बचा सकता।

निसर्ग के अटूट नियमों की यह धर्ममयी व्याख्या सुन कर ब्राह्मण अग्गिक भारद्वाज अत्यंत प्रभावित हुआ और भगवान का अंजलिबद्ध अनुयायी हो गया। जात-पांत और छुआछूत की मिथ्या मान्यता के चंगुल से मुक्त हुआ और ब्राह्मण न होते हुए भी जाति के आधार पर अपने को ब्राह्मण मान बैठने के मिथ्या अहंकार से मुक्त हुआ।

सुंदरिक भारद्वाज

सुंदरिका नदी के तट पर ब्राह्मण सुंदरिक भारद्वाज ने अग्निहोत्र पूरा किया; अग्नि की परिचर्या पूरी की। वह किसी योग्य पात्र को हव्यशेष देने के लिए उठा। कुछ दूरी पर एक वृक्ष के तले भगवान बैठे थे। उन्होंने चीवर से अपना सिर ढक रखा था। बायें हाथ में हव्यशेष और दाहिने में पानी का कमंडल लिए हुए सुंदरिक भारद्वाज उनके पास पहुँचा। आहट पाकर भगवान ने अपना सिर उघाड़ा। भारद्वाज ने देखा तो कहा–

मुण्डो अयं भवं, मुण्डको अयं भवं।

– अरे, यह तो मोडा है अर्थात मुंडा है; अरे, यह तो मथमुंडा है।

ऐसे व्यक्ति को हव्य का दान देना उचित नहीं। यह सोच कर वह उल्टे पांव मुड़ चला। थोड़ी दूर जाकर उसके मन में ऐसा विचार आया–

मुण्डापि हि इधेकच्चे ब्राह्मणा भवन्ति – कोई-कोई मथमुंडे भी ब्राह्मण होते हैं।

स्पष्ट है कि तब तक भगवान के अनेक ब्राह्मण-अनुयायी सिर मुंडा कर भिक्षु हो गये थे। सामान्यतया श्रमण ही सिर मुँडाते थे। ब्राह्मण दाढ़ी, मूंछ और जटाधारी होते थे। हमने जटाधारी काल देवल को सात ब्रह्मऋषियों को शिक्षा देने के लिए सिर और दाढ़ी-मूंछ मुँडा कर और मजीठी रंग का कपड़ा ओढ़ कर श्रमण का भेष बनाते देखा है। परंतु जैसे-जैसे भगवान की शिक्षा ब्राह्मण समाज ने स्वीकार करनी शुरू की, वैसे वैसे कुछ लोगों की नजरों में श्रमणों के प्रति पुराना दुराग्रह कम होने लगा होगा, श्रमणों के प्रति सम्मान बढ़ने लगा होगा। इसलिए कुछ लोग भगवान गौतम बुद्ध के अनुयायी न होते हुए भी उनके तथा उनके मुंडक शिष्यों के प्रति आदरभाव रखने लगे होंगे। इसी कारण स्वयं भी मुंडन कराने लगे होंगे। भगवान बुद्ध के साथ वाद-विवाद के लिए जाने वाला माणवक आश्वलायन मुंडित सिर ही था। जो भी हो, ऐसा भाव मन में आते ही

सुंदरिक भारद्वाज ने सोचा, क्यों न मैं इस मुंडक से इसकी जात पूछ लूं। अतः वह मुड़ कर फिर भगवान के पास आया और पूछने लगा–

किंजच्चो भवं – आप किस जाति के हैं? (सु० नि०, सुन्दरिकभारद्वाजसुत्त)

भगवान ने उत्तर दिया–

मा जातिं पुच्छी, चरणञ्च पुच्छ – जाति न पूछो, आचरण पूछो।

कट्ठा हवे जायति जातवेदो – लकड़ी में से आग पैदा होती ही है।

नीचाकुलीनोपि मुनी धितीमा,

– नीच कुल में पैदा होकर भी कोई व्यक्ति मुनि हो सकता है, धृतिमान हो सकता है,

आजानियो होति हिरीनिसेधो। (सु० नि० ४६६, सुन्दरिकभारद्वाजसुत्त)

– श्रेष्ठ व्यक्ति हो सकता है, निषिद्ध कर्मों के प्रति लज्जाशील हो सकता है।

लकड़ी लकड़ी है, चाहे चंदन की हो या नीम की। जलाने पर दोनों में से एक जैसी अग्नि पैदा होती है। एक जैसी ज्वाला प्रकाशमान होती है। इसी प्रकार मनुष्य चाहे ऊंची जात का हो या नीची जात का, भीतर प्रज्ञा की अग्नि प्रज्वलित हो जाय, तो वह एक जैसा धार्मिक हो जाता है। भगवान ने सच्चे धार्मिक व्यक्ति की व्याख्या की और उसके अनेकानेक गुण समझाते हुए कहा–

आसं अनिस्साय विवेकदस्सी।

– वह आशाओं से यानी तृष्णाओं से अनाश्रित होता है, विवेकदर्शी होता है, यानी लौकिक क्षेत्र से अलग होकर निर्वाणदर्शी होता है।

परवेदियं दिट्ठिमुपातिवत्तो।

– दूसरों की अनुभूतियों पर मानी जानेवाली दार्शनिक मान्यताओं से दूर हो जाता है (यानी स्वदर्शन द्वारा अनुभूत सम्यक दर्शन ही स्वीकार करता है)।

आरम्मणा यस्स न सन्ति केचि।

– (यों स्वानुभूति से निर्वाण का दर्शन कर लेने पर) वह निरालंब अवस्था में विहार करता है।

तथागतो अरहति पूरळासं। (सु० नि० ४७८, सुन्दरिकभारद्वाजसुत्त)

– ऐसा तथागत हव्य का अधिकारी होता है।

मुंडक विरोधी सुंदरिक भारद्वाज को होश आया। उसने भगवान में सही ब्राह्मण का ही नहीं साक्षात ब्रह्मा का दर्शन किया और बोला –

ब्रह्मा हि सक्खि – आप साक्षात ब्रह्मा ही हैं।

भुञ्जतु मे भगवा पूरळासं – भगवान, मेरा हव्य ग्रहण करें।

इसका उत्तर देते हुए भगवान ने कहा –

गाथाभिगीतं मे अभोजनेय्यं – कविता गान से प्राप्त भोजन मेरे लिए अग्राह्य है।

सम्पस्सतं ब्राह्मण नेस धम्मो – हे ब्राह्मण, सम्यकदर्शी ज्ञानियों का यह धर्म नहीं है।

गाथाभिगीतं पनुदन्ति बुद्धा – गाथाओं के गायन से प्राप्त भोजन बुद्ध स्वीकार नहीं करते।

धम्मे सती ब्राह्मण वुत्तिरेसा – हे ब्राह्मण, यही धार्मिक रीति है।

(सु० नि० ४८३-४८४, सुन्दरिकभारद्वाजसुत्त)

भगवान आशुकवि थे। वे अपना उपदेश गद्य में भी देते थे और कभी-कभी तत्काल रचित पद्य में भी। पद्यों को याद रखना सरल होता है। इसके अतिरिक्त भगवान की वाणी अत्यंत सुरीली और हृदयग्राही थी। अतः श्रोताओं पर उसका तत्क्षण गंभीर प्रभाव पड़ता था। सुनते-सुनते किसी-किसी के भीतर विजली का सा करंट चलने लगता था और पुण्य-पारमीधारी हो, तो उसे उदय-व्यय का अनुभव होने लगता था और यह अनुभव होते-होते निर्वाण का साक्षात्कार हो जाता था। भगवान को गाथाओं में उपदेश देना प्रिय था। परंतु क्लासिकल (शास्त्रीय) गायकों की भांति वे सुर को लंबायमान करके नहीं गाते थे। गाथाओं का सामान्य सस्वर पाठ उन्हें प्रिय था।

एक घटना –

भदंत महाकात्यायन का शिष्य सोण भगवान से पहली वार मिला, तो उन्होंने पूछ लिया कि अव तक तुमने क्या सीखा है? प्रत्युत्तर में वह –

सोळस अट्ठकवग्गिकानि सब्बानेव सरेन अभणि।

– संपूर्ण सोलह अष्टवर्गों का सस्वर पाठ कर गया।

अथ खो भगवा आयस्मतो सोणस्स सरभञ्ञपरियोसाने अब्भनुमोदि।

(उदा० ४६, सोणसुत्त)

– भगवान ने आयुष्मान सोण द्वारा इस प्रकार सस्वर पाठ किये जाने का विशिष्ट अनुमोदन किया।

इससे यह अनुमान करना ठीक है कि भगवान ने सुंदरिक भारद्वाज को जो स्वरचित पद्य सुनाये, वह सस्वर ही थे। इसीलिए कहा – **गाथाभिगीतं** ।

यों सस्वर गीत गाकर भोजन प्राप्त करना धर्म के विरुद्ध वात थी। सस्वर न भी हो, तो भी धर्म सिखा कर वदले में उसकी कीमत लेना, चाहे भोजन के रूप में ही हो, यह अनुचित है। इससे धर्म का व्यवसाय हो जाता है। धर्म को व्यवसाय वना देना धर्म का अवमूल्यन करना है। भगवान ने एक अन्य अवसर पर वहुत स्पष्ट शब्दों में कहा –

धम्मेन न वणिं चरे – धर्म को कहीं व्यवसाय न वना देना।

(उदा० ५२, सत्तजटिलसुत्त)

सुंदरिक भारद्वाज ने श्रद्धापूर्वक भोजन अर्पित किया, परंतु भगवान ने उसे अस्वीकार किया। इससे सुंदरिक भारद्वाज और प्रभावित हुआ और भगवान की शरण ग्रहण कर सही माने में ब्राह्मण वना।

कृषि भारद्वाज

किसी हट्टे-कट्टे व्यक्ति को भीख मांगते देख कर आजकल भी कोई दुत्कारता है और कह देता है कि मेहनत, मजदूरी करके पेट क्यों नहीं भरता? क्यों भीख मांगने निकल पड़ा? ऐसे ही तिरस्कार का सामना भगवान को करना पड़ा, जब भिक्षाटन करते हुए वे कृषि भारद्वाज के द्वार पर गये, जहां ब्राह्मण कृषि भारद्वाज अन्य ब्राह्मणों को भोजन परोस रहा था। उसने भगवान को दुत्कारते हुए कहा –

अहं खो, समण, कसामि च वपामि च – हे श्रमण, मैं जोतता हूं, बोता हूं।

कसित्वा च वपित्वा च भुञ्जामि – जोत कर, वो कर, (यों मैं मेहनत करके) खाता हूं।

त्वम्पि समण, कसस्सु च वपस्सु च – तू भी श्रमण, जोत और वो।

कसित्वा च वपित्वा च भुञ्जस्सूति – जोत, वो कर (यानी मेहनत करके) खा।

(सु० नि०, कसिभारद्वाजसुत्त)

भगवान विद्याचरणसंपन्न थे। इसलिए इस प्रकार के तिरस्कार-भरे शब्दों को सुन कर रंच-मात्र भी कुपित नहीं हुए, वल्कि अत्यंत करुण चित्त से धर्म का उपदेश देते हुए उसे समझाया कि मैं भी खेती करता हूं और अपनी खेती की कमाई ही खाता हूं। उन्होंने कहा –

सद्धा वीजं तपो वुट्ठि – श्रद्धा मेरा वीज है, तप मेरी वृष्टि है।

इस प्रकार के रूपकों द्वारा धर्म की खेती का सही स्वरूप समझाया।

एवमेसा कसी कट्ठा, सा होति अमतप्फला।

– यह मेरी इस प्रकार की गयी खेती है, जो अमृतरूपी फल देती है।

यह सुन कर कृषि भारद्वाज अत्यंत प्रसन्न हुआ और सोने की थाली में खीर परोस कर भगवान के सामने रखते हुए वोला –

भुञ्जतु भवं गोतमो पायसं – आप गौतम खीर खाएं।

कस्सको भवं – आप सचमुच कृषक हैं।

यं हि भवं गोतमो अमतप्फलं कसिं कसतीति।

– यह जो आप अमृत का फल देने वाली कृषि करते हैं।

भगवान ने इस भिक्षा को भी अस्वीकार किया। कारण वही था –

गाथाभिगीतं मे अभोजनेय्यं। (सु० नि० ७७, ८०-८१, कसिभारद्वाजसुत्त)

– धर्म के गंभीर सिद्धांत की यह बात भगवान के मुँह से सुन कर कृषि भारद्वाज और अधिक प्रभावित हुआ, श्रद्धा-बहुल हुआ। भगवान की शरण ग्रहण कर वह सही ब्राह्मण वना और कृत-कृत्य हुआ।

पतनोन्मुख श्रमणाचार्य

हो सकता है, उन दिनों श्रमण परंपरा अधोगति को प्राप्त हो गयी हो। तभी श्रमणों के बारे में ब्राह्मण समाज में इतना पूर्वाग्रह स्थापित हो चुका था। श्रमण मात्र की निंदा करना मानो अनेक लोगों का स्वभाव बन गया था। उन दिनों के जिन छः प्रमुख आचार्यों का वर्णन मिलता है, उनमें से एक को छोड़कर वाकी पांच श्रमण ही थे और उन पांचों में से केवल एक निगण्ठ नाथपुत्त ही ऐसे थे, जो शील-सदाचार को महत्त्व देते थे। बाकियों की शिक्षा में तो शील-सदाचार का नामोनिशान भी नहीं था। उनमें से कोई-कोई तो शील के कट्टर विरोधी थे। कोई कहता था कि न कोई पापकर्म है जिसका कोई दुष्फल मिले और न कोई पुण्यकर्म है जिसका कोई सुफल मिले। कोई कहता था कि चाहे जितनी हत्याएं कर दो, इसमें कोई दोष नहीं। जिसकी हत्या की गयी उसके भीतर की आत्मा तो अमर है, अतः उसकी हत्या ही नहीं हुई। इस प्रकार की बातों से कुछ लोगों के मन में सभी श्रमणों के प्रति दुर्भाव पैदा हो गया होगा। वे अच्छे और बुरे श्रमण का भेद नहीं कर पाते होंगे। अतः भगवान बुद्ध को श्रमण रूप में देखते ही उनके प्रति बुरी भावना वना लेते थे और उनका तिरस्कार कर देते थे। परंतु उनकी वाणी सुनने पर बात समझ में आती थी कि ये तो साक्षात धर्म ही हैं। अन्य श्रमणों से इनकी कोई तुलना नहीं। ये तो हम ब्राह्मणों से भी कहीं

अधिक ब्राह्मण हैं। ऐसे लोग सहज ही उनकी शरण ग्रहण कर कृतार्थ हो जाते थे।

ऐसी ही एक अन्य घटना –

मागण्डिय

एक बार भगवान कुरु प्रदेश में कम्मासधम्म निगम में भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण की अग्निशाला में ठहरे हुए थे। अग्निशाला में उनका तृणासन बिछा था। भगवान भिक्षाटन के लिए बाहर गये हुए थे। उस समय परिव्राजक मागण्डिय ब्राह्मण भारद्वाज ब्राह्मण से मिलने आया। यह सुंदरी मागंधी के पिता से भिन्न व्यक्ति था। उसने भगवान के तृणासन को देख कर भारद्वाज से पूछा – यह किसका आसन है? देखने में किसी श्रमण का आसन लगता है। भारद्वाज ने भगवान की प्रशंसा-प्रशस्ति में कुछ शब्द कहे और बताया कि यह उन्हीं का आसन है। यह सुन कर परिव्राजक ब्राह्मण मागण्डिय बिगड़ उठा और अत्यंत जुगुप्सा के भाव में बोला –

दुद्दिट्ठं वत, भो भारद्वाज, अद्दसाम।

– हे भारद्वाज, यह देखना बड़ा अमंगलकारी हुआ।

ये मयं तस्स भोतो गोतमस्स भूनहुनो सेय्यं अद्दसाम।

– यह जो उस **भूनहा** गौतम का तृणासन देखना हुआ।

यह बहुत ही अमंगलसूचक है।

भूनहूनो शब्द का अर्थ कोई भ्रूण-हत्यारा करता है, कोई जीव-हत्यारा, कोई आत्म-स्वस्ति-हत्यारा करता है। जो भी हो, यह कोई सम्मानजनक शब्द नहीं था। घृणासूचक शब्द ही था। इसीसे सिद्ध होता है कि कई लोगों ने श्रमणों के प्रति अपने मन में असीम घृणा के भाव सँजो रखे थे। जो लोग भगवान के प्रत्यक्ष संपर्क में आते, वे उनकी पवित्रता से प्रभावित हो जाते थे, जैसे कि इस अग्निशाला का स्वामी भारद्वाज ब्राह्मण। उसने भगवान के बारे में ऐसे ओछे शब्द कहने वाले ब्राह्मण मागण्डिय को रोकने की कोशिश की।

रक्खस्सेतं, मागण्डिय, वाचं; रक्खस्सेतं, मागण्डिय, वाचं।

– रोको, मागण्डिय, ऐसे वचनों को। रोको, मागण्डिय, ऐसे वचनों को।

अनेक क्षत्रिय पंडित, अनेक ब्राह्मण पंडित, अनेक गृही पंडित, अनेक श्रमण पंडित भी आप गौतम के प्रति श्रद्धावान हैं। वे लोग श्रमण गौतम द्वारा कुशल आर्यज्ञान मार्ग पर लगाये गये हैं।

यह सुन कर हठीले मागण्डिय ने कहा कि श्रमण गौतम के मुँह पर भी मैं यही कहूंगा कि –

भूनहू समणो गोतमोति – श्रमण गौतम **भूनहू** है।

तं किस्स हेतु – सो किस हेतु?

एवं हि नो सुत्ते तं ओचरति – क्योंकि ऐसा हमारे सूत्रों में आया है।

(म० नि० २.२०७, मागण्डियसुत्त)

इससे यह भी स्पष्ट है कि उन दिनों की ब्राह्मण-परंपरा में ऐसा साहित्य मौजूद था जो श्रमणों की भरपूर निंदा करता था और अनेक लोग उसे ब्रह्म-वाक्य मान कर उसके प्रति प्रगाढ़तः विश्वस्त थे, आसक्त थे। इस कारण बुरी तरह पूर्वाग्रह-ग्रस्त थे। परंतु कोई ऐसा व्यक्ति जब भगवान के संपर्क में आता और उनसे धर्म का वास्तविक अर्थ समझता तो धर्म धारण कर उन पूर्वाग्रहों से ही मुक्त नहीं हो जाता, बल्कि भवचक्र से भी मुक्त हो जाता। जैसे कि यह परिव्राजक ब्राह्मण मागण्डिय, जिसे भगवान के समझाने पर सही धर्म समझ में आ गया। मानो जन्म के अंधे को आंखें मिल गईं। वह भव-संसरण से मुक्त हो गया।

संगारव माणव

कोशल देश के मंगलकल्प नामक स्थान में धनंजानी नामक एक ब्राह्मणी रहती थी। वह भगवान के प्रति अत्यंत श्रद्धालु थी। एक बार चलते हुए वह जरा सी फिसली, तो अनायास उसके मुँह से भगवान के प्रति प्रशस्ति नमन की वाणी निकल पड़ी –

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स।

– नमस्कार है उन भगवान अरहंत सम्यक संबुद्ध को।

पास ही संगारव नामक ब्राह्मण माणवक खड़ा था। उसने ये शब्द सुने तो तिलमिला उठा और धनंजानी ब्राह्मणी को धिक्कारते फटकारते हुए बोला –

अवभूताव अयं धनञ्जानी ब्राह्मणी, परभूताव अयं धनञ्जानी ब्राह्मणी।

– गिरी हुई है रे, यह ब्राह्मणी धनंजानी; पतित है रे, यह ब्राह्मणी धनंजानी।

विज्जमानानं तेविज्जानं ब्राह्मणानं,

– जो कि त्रिवेदी ब्राह्मणों के विद्यमान होते हुए

अथ च पन तस्स मुण्डकस्स समणकस्स वण्णं भासिस्सतीति।

– उस मथमुंडे श्रमण की प्रशंसा करती है।

भगवान के प्रति ऐसे अपशब्द सुन कर ब्राह्मणी धनंजानी ने कहा –

न हि पन त्वं, तात भद्रमुख, तस्स भगवतो सीलपञ्ञाणं जानासि।

– हे तात भद्रमुख, तू भगवान के शील और प्रज्ञा के बारे में नहीं जानता।

और इसी कारण –

न त्वं, तात भद्रमुख, तं भगवन्तं अक्कोसितब्बं परिभासितब्बं मञ्ञेय्यासि।

(म० नि० २.४७३, सङ्गारवसुत्त)

– हे तात भद्रमुख, तू यह नहीं मान रहा है कि भगवान आक्रोश और निंदा करने योग्य नहीं है।

इस पर संगारव ने कहा कि वह श्रमण गौतम से अवश्य मिलना चाहेगा। जब कभी श्रमण गौतम इस ओर आएं तो उसे सूचना दे।

संगारव के सौभाग्य से कुछ समय पश्चात चारिका करते हुए भगवान उस ओर से गुजरे। संगारव उनसे मिलने गया। उनसे जो वार्त्तालाप हुआ,

उससे संगारव को विश्वास हुआ कि वे सचमुच सुप्रज्ञ हैं। सचमुच विद्या और शील में यानी विद्याचरण में परिपूर्ण हैं, उनमें कहीं कोई दोष नहीं है। इस प्रकार उनके प्रति पूर्णतया आश्वस्त, विश्वस्त होकर उनका प्रणत अनुगामी बन गया।

धनंजानी ब्राह्मणी

भगवान बुद्ध के प्रति अत्यंत श्रद्धाविनत यही धनंजानी ब्राह्मणी एक बार अपने पति को भोजन परोसती हुई तीन बार बोली –

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स।

– नमस्कार है उन भगवान अरहंत सम्यक संबुद्ध को।

यह सुन कर उसका पति तिलमिला उठा और क्रोधित होकर बोला –

एवमेवं पनायं वसली – यह ऐसी चंडालिनी है जो कि –

यस्मिं वा तस्मिं वा तस्स मुण्डकस्स समणस्स वण्णं भासति।

– जिस किसी बात में उस मथमुंडे श्रमण का गुण गाती रहती है।

(सं० नि० १.१.१८७, धनञ्जानीसुत्त)

हे पापिन, मैं तुम्हारे गुरु के दोष प्रकाशित करूंगा।

ब्राह्मणी धनंजानी ने कहा कि भगवान इतने निर्दोष हैं कि संसार में कोई उन्हें दोषी साबित नहीं कर सका। चाहो तो तुम स्वयं उनसे मिल कर देख लो।

इस चुनौती पर ब्राह्मण भारद्वाज और अधिक कुपित हुआ। वह मन-ही-मन कुढ़ता हुआ भगवान के पास पहुँचा। परंतु वहां उनकी धर्मवार्त्ता सुन कर शांत ही नहीं हो गया बल्कि ऐसा श्रद्धाबहुल हुआ कि उनकी चरण-शरण ग्रहण कर, प्रव्रजित हो, उनसे विपश्यना-विद्या सीखकर अचिर-काल में अरहंत अवस्था प्राप्त कर कृत-कृत्य हो गया।

आक्रोशक भारद्वाज

आक्रोशक भारद्वाज ब्राह्मण ने जब सुना कि उसका बुद्ध-विरोधी साथी भारद्वाज ब्राह्मण भी बुद्ध का शिष्य हो गया, तो वह क्रोध के मारे आगबबूला हो उठा। वह आक्रोश से भरा हुआ भगवान के पास गया और उन्हें खरी-खोटी सुनाने लगा। चुन-चुन कर गालियां देने लगा। भगवान शांतचित्त सुनते रहे। जब वह बहुत बड़बड़ा चुका तब उसके प्रति असीम करुणा जगा कर भगवान ने उससे पूछा - ब्राह्मण, क्या तुम्हारे यहां कोई बंधु, मित्र मेहमान होकर आते हैं?

- "हां, हां, आते हैं।"

- "तो क्या तुम उनके लिए खाने-पीने की चीजें तैयार करते हो?"

- "हां, हां, करता हूं।"

- "यदि वे किसी कारण खाने-पीने की ये चीजें नहीं ग्रहण करते, तो उन चीजों का क्या होता है?"

- "क्या होता है? वे सब मेरे ही पास रह जाती हैं।"

एवमेव खो, ब्राह्मण, - ऐसे ही ब्राह्मण,

यं त्वं अम्हे अनक्कोसन्ते अक्कोससि,

- कभी आक्रोश न करने वाले मुझ पर तुम जो आक्रोश प्रकट कर रहे हो,

अरोसेन्ते रोसेसि - कभी रोष न करने वाले पर रोष प्रकट कर रहे हो,

अभण्डन्ते भण्डसि - कभी झगड़ा न करने वाले से झगड़ा कर रहे हो,

तं ते मयं नप्पटिग्गण्हाम - उसे मैं स्वीकार नहीं करता,

तवेवेतं, ब्राह्मण, होति - तो ये (सब उपहार) तुम्हारे ही हैं।

(सं० नि० १.१.१८८, अक्कोससुत्त)

जो लोग खोटी बात करने वाले को बदले में खोटी बात कहते हैं; क्रोध करने वाले पर बदले में क्रोध करते हैं; उल्टा-सीधा बोलने वाले से बदले में

उल्टा-सीधा बोलते हैं; वे खाने-पीने के उपहार का परस्पर लेन-देन ही तो करते हैं। हे भारद्वाज, मैं यों उपहारों का आदान-प्रदान नहीं करता। ये गालियां तुम्हें ही मुबारक हों, मैं बदले में गालियां नहीं दूंगा।

आक्रोशक ब्राह्मण अवाक रह गया। भगवान की अप्रतिम महानता उसके सामने थी। वह भाव-विभोर हो उठा और बोला -

आप गौतम को तो राजा की सभा तक जानती है कि आप गौतम सचमुच अरहंत हैं।

(मगध-राज बिंबिसार सहित उसके अनेक सभासद भगवान के शिष्य थे।)

(अरहंत हैं तो) आप गौतम क्रोध कैसे करेंगे?

वह उसी समय भगवान का होकर रह गया। वह ज्ञानलाभी हुआ। आक्रोशक ब्राह्मण का आक्रोश सदा के लिए दूर हो गया। उपहारों के पारस्परिक आदान-प्रदान से, पारस्परिक खिलाने-पिलाने से वह सदा के लिए विमुक्त हो गया। सदा के लिए शांत हो गया। संत हो गया।

विद्या और चरण; सिद्धि और करुणा

भगवान की एक सिद्धि थी परचित्त ज्ञान की विद्या जिससे उन्हें तत्क्षण विदित हो जाता था कि इस समय इस व्यक्ति की मनःस्थिति कैसी है? यह क्रुद्ध है, तो भीतर ही भीतर बड़ा व्याकुल है, संतप्त है, जल रहा है। यह जान कर उनका ब्रह्मविहार का आचरण जाग उठता था। ऐसे दुखियारे पर करुणा जाग उठती थी। जो स्वयं क्रोध में जल रहा है, उस पर क्रोध प्रकट करके उसे और कैसे जलाएं? जलते हुए पर तो मैत्री और करुणा की शीतल बौछार करनी चाहिए। यही अपेक्षित है, यही उचित है और यही करते थे भगवान। उस पर धर्म-मेघ की वर्षा करके उसे शीतल-शांत बना देते थे। यही उनकी विद्या थी, यानी प्रज्ञा थी। यही उनका चरण था, यानी करुणा थी।

किसी को दुर्व्यवहार करते देख कर भगवान अचल, शांत रह जाते थे, यह उनका उपेक्षा ब्रह्मविहार था। फिर उस दुखियारे पर मैत्री और करुणा की मंगल वर्षा करते थे, यह उनका मैत्री तथा करुणा ब्रह्मविहार था। फिर उसे शांत, सुखी हुआ देख कर मन को मोद से भर लेते थे, यह उनका मुदिता ब्रह्मविहार था। यों चारों ब्रह्मविहारों का जीवन जीना उनके लिए सहज हो गया था। इसके लिए उन्हें कोई प्रयास, परिश्रम नहीं करना पड़ता था। वे सहज स्वभाव से ही ऐसे श्रेष्ठ ब्रह्मविहारी थे –

सो अनत्तन्तपो अपरन्तपो।

– जो न स्वयं संतापित होता है, न औरों को संतापित करता है।

दिट्ठेव धम्मे निच्छातो निब्बुतो,

– जो यहीं इसी जीवन में तृष्णामुक्त निर्वाण प्राप्त कर चुका है।

सीतिभूतो – शांत, शीतलीभूत हो चुका है,

सुखप्पटिसंवेदी – सुखानुभूति करता है।

सुखानुभूति करने वाला –

ब्रह्मभूतेन अत्तना विहरति – स्वयं ब्रह्मभूत यानी ब्रह्मा होकर विहार करता है।

(म० नि० २.४१३, घोटमुखसुत्त)

ऐसे **ब्रह्मभूतेन अत्तना** हुए व्यक्ति ब्रह्मविहार ही करेंगे। सभी अवस्थाओं में उपेक्षा यानी समता में स्थित रहेंगे। किसी आक्रोशक भारद्वाज-जैसे के दुर्व्यवहार से कैसे विचलित होंगे भला? क्योंकि –

ते सम्बुद्धा सम्मदञ्ञा – वे संबुद्ध हैं, परम सत्य के भली-भांति जानकार हैं।

चरन्ति विसमे समन्ति – विषम अवस्था में भी उनका आचरण सम रहता है।

(सं० नि० १.१.७, अप्पटिविदितसुत्त)

यानी वे उपेक्षा ब्रह्मविहार का जीवन जीते हैं। सही माने में उपेक्षा का जीवन वे ही जी सकेंगे, जो वितृष्ण होंगे। अनपेक्षाविहारी होंगे। अपेक्षा

नहीं है, तो ही उपेक्षा है। वे जहां-जहां विहार करेंगे, अनपेक्षित होकर ही विहार करेंगे।

सेय्यथापि, भिक्खवे – जैसे कि भिक्षुओ,

उप्पलं वा पदुमं वा पुण्डरीकं वा – उत्पल या पद्म या पुंडरीक कमल,

उदके जातं उदके संवड्ढं उदका अच्चुग्गम्म ठाति अनुपलित्तं उदकेन।

– पानी में जन्मता है, पानी में बढ़ता है तो भी वह पानी में ऊपर उठा हुआ पानी से अलिप्त रहता है।

एवमेव खो, भिक्खवे – इसी प्रकार, भिक्षुओ,

तथागतो लोके जातो, लोके संवड्ढो लोकं अभिभुय्य विहरति अनुपलित्तो लोकेन।

(सं० नि० २.३.९४, पुप्फसुत्त)

– तथागत संसार में जन्मते हैं, संसार में बढ़ते हैं; परंतु संसार से ऊपर उठ कर संसार से अलिप्त विहरते हैं।

तथागत संसार में अलिप्त जीवन ही जीते हैं।

यथापि उदके जातं, पुण्डरीकं पवड्ढति।
नोपलिप्पति तोयेन, सुचिगन्धं मनोरमं॥

– जैसे सुगंधित और मनोरम कमल जल में उत्पन्न होकर जल में बढ़ता है, परंतु जल से लिप्त नहीं होता,

तथेव च लोके जातो, बुद्धो लोके विहरति।
नोपलिप्पति लोकेन, तोयेन पदुमं यथा॥

(थेरगा० ७००-७०१, उदायित्थेरगाथा)

– वैसे ही बुद्ध संसार में जन्म कर, संसार में रहते हुए भी संसार से उसी प्रकार अलिप्त रहते हैं, जिस प्रकार कि पद्म पानी से।

ऐसे व्यक्ति ही विषम अवस्थाओं में अचल, अकंपित, समता भरा जीवन जीते हैं।

सेलो यथा एकघनो, वातेन न समीरति।
एवं निन्दापसंसासु, न समिञ्जन्ति पण्डिता॥

(ध० प० ८१, पण्डितवग्ग)

– जैसे ठोस पर्वत आंधी से नहीं हिलता, वैसे ही पंडित निंदा और प्रशंसा से नहीं डिगते।

बुद्ध जैसे परम पंडित किसी क्रोधी भारद्वाज के दुर्वचनों से कैसे डिगते भला, क्योंकि वे शांति और साधुता के स्वयं मूर्तस्वरूप थे। इन्हीं सद्गुणों के कारण वे सदा विजयी होते थे।

अक्कोधेन जिने कोधं, असाधुं साधुना जिने। (ध० प० २२३, कोधवग्ग)

– क्रोध को अक्रोध से जीते, दुष्टता को साधुता से।

बुद्ध जिन थे, विजेता थे। सदा इसी प्रकार धर्म के वल पर विजयी वने रहते थे। वे निंदा से या कटु वचनों से कैसे विचलित होते, कैसे पराजित होते? वे अपने शिष्यों को भी यही समझाते थे कि निंदा से कौन वचा है भला?

निन्दन्ति तुण्हिमासीनं, निन्दन्ति वहुभाणिनं।

– मौन रहनेवालों की भी निंदा होती है, वहुत वोलनेवालों की भी निंदा होती है।

मितभाणिम्पि निन्दन्ति, नत्थि लोके अनिन्दितो। (ध० प० २२७, कोधवग्ग)

– कम वोलनेवालों की भी निंदा होती है। इस संसार में निंदा से कोई नहीं वचा। इसीलिए –

ममं वा, भिक्खवे, परे अवण्णं भासेय्युं, धम्मस्स वा अवण्णं भासेय्युं, सङ्घस्स वा अवण्णं भासेय्युं,

– भिक्षुओ, यदि कोई मेरी या धर्म की या संघ की निंदा करे,

तत्र चे तुम्हे अस्सथ कुपिता वा अनत्तमना वा,

– उससे यदि तुम कुपित हो जाओगे, अप्रसन्न हो जाओगे तो –

तुम्हंयेवस्स तेन अन्तरायो।

– यह तुम्हारी ही अध्यात्मिक प्रगति में वाधक वन जाएगा।

तत्र तुम्हेहि अभूतं अभूततो निब्बेठेतब्बं। (दी० नि० १.५, ब्रह्मजालसुत्त)

– यदि वह निंदा झूठी है, तो उसे झूठी समझ कर मन से दूर करना चाहिए।

निंदा करने वाले पर कुपित होने से अपना ही मन मैला होता है। चित्त मैला होगा तो चित्त-विशोधनी विपश्यना-साधना में सफलता कैसे मिलेगी? परंतु यदि अपने में सचमुच कोई खोट है, तो उसे जांच कर देख लेना चाहिए और प्रयत्नपूर्वक दूर करना चाहिए। ऐसे दोष दिखाने वाले निंदक को धन्यवाद देना चाहिए, उसका आभार मानना चाहिए।

निधीनंव पवत्तारं, यं पस्से वज्जदस्सिनं। (ध० प० ७६, पण्डितवग्ग)

– दोष दिखाने वाले को छिपा धन वताने वाला उपकारी जैसा मानें।

द्रोण ग्राम

भगवान का श्रावक-श्राविका संघ वार-वार विरोधियों द्वारा निंदित होता था। उनका तो कहना ही क्या, जव कि स्वयं भगवान को भी ऐसी निंदा और ऐसे विरोधों में से गुजरना पड़ता था। एक वार वड़े भिक्षु संघ के साथ वे मल्लों के जनपद में से चारिका करते हुए द्रोण नामक ब्राह्मणग्राम में से गुजरे। वहां के निवासी भगवान के वड़े विरोधी थे। जव उन्हें यह सूचना मिली कि भगवान अपने संघ सहित यहां से गुजर रहे हैं, तो वहां के एकमात्र कुएं को घास-फूस, विचाली आदि से भर दिया, ताकि ये मथमुंडे नकली साधु पानी विना प्यासे ही रह जायँ। जव भगवान अपने संघ सहित वहां रुके और एक पेड़ की छांह में विश्राम करने लगे, तव उन्होंने पीने के लिए जल मांगा। भिक्षु कुएं तक जाकर सारी हकीकत देख आये और भगवान को यथावत सूचना दे दी। क्रोध करने अथवा दुःखी होने के स्थान पर भगवान ने अपने मानस में उनके प्रति मैत्री ही जगायी। क्रोध करते या दुःखी होते तो वे विद्याचरणसंपन्न बुद्ध कैसे होते?

धर्म-विहारी की मदद धर्म करता है। भिक्षुओं ने देखा कि कुएं का पानी ऊपर तक आया हुआ है। घास-फूस दूर कर के कुएं का शीतल-स्वच्छ जल पी कर सबने अपनी प्यास बुझायी।

जब भगवान को भिक्षा नहीं मिली

एक बार भगवान मगध के पंचसाल नामक ब्राह्मणों के गांव में गये। विरोधी तत्वों ने सारे गांव के लोगों की मति फेर दी। भगवान भिक्षाटन के लिए निकले, तो लोगों ने घरों के दरवाजे बंद कर लिये। किसी ने भिक्षा में एक कौर भी नहीं दिया। भगवान खाली भिक्षा-पात्र लिए लौट आये। उनके मन पर इस बात का जरा भी सदमा नहीं था। वे भिक्षा-पात्र को एक ओर रखते हुए बोले -

सुसुखं वत जीवाम, येसं नो नत्थि किञ्चनं।

- जो यह हमारी अकिञ्चन अवस्था है इसमें हम सुखपूर्वक जीते हैं। अपरिग्रही ही सुखी रहता है। परिग्रह में सुख कहां?

पीतिभक्खा भविस्साम, देवा आभस्सरा यथा।

(सं० नि० १.१.१५४, पिण्डसुत्त)

- आभास्वर ब्रह्मलोक के देवों के समान हम भी केवल समाधिजन्य प्रीति का ही आहार लेंगे।

कहां क्रोध है उन मति फेरने वाले विरोधियों पर? कहां कोप है उन भिक्षा न देने वाले अज्ञानियों पर?

वेरंजा

एक अवस्था इससे भी गयी-गुजरी आयी। वेरंजा ग्राम के अधिपति ब्राह्मण ने भगवान को अपने यहां वर्षा-वास के लिए आमंत्रित किया। समय पर आनंद तथा कुछ भिक्षुओं के साथ भगवान वहां पहुँचे। ब्राह्मण मानो सब कुछ भूल ही गया। न स्वयं उसने भिक्षा दी और न उसके गांव वालों ने। भगवान संघ सहित गांव के बाहर जा टिके। वर्षा-वास आरंभ हो चुका था।

अब अन्यत्र जा भी नहीं सकते थे। तीन महीने वहीं गुजारने पड़े। उस समय उस प्रदेश में घोर अकाल पड़ा हुआ था। वहां भिक्षा का कोई साधन नहीं था। आनंद घोड़ों के किसी घुड़साल में जाते। वहां घोड़ों को हल्का अनाज खाने को दिया जाता था। घोड़ों का मालिक उसमें का थोड़ा अन्न भिक्षा में दे देता। आनंद उसे साफ करते और कूट कर पानी में भिगो देते। गुरु-शिष्य सभी उससे ही पेट भरते। पूरे वर्षा-वास भगवान ने यही अन्न खाया और आमंत्रण देने वाले वेरंजा ब्राह्मण को असीम मैत्री का दान देते रहे, उस पर करुणा बरसाते रहे।

कुछ एक ब्राह्मणों द्वारा यह जो बार-बार भगवान अथवा संघ का अपमान होता रहा, उसका अधिकांश दोष उस परंपरागत गलत मान्यता का था, जिसके कारण ब्राह्मण इस भ्रम में थे कि महज एक ब्राह्मणी के कोख से जन्मने के कारण वे औरों की तुलना में महान हैं, भले उनमें शील-सदाचार हो या न हो; भले उनमें स्थितप्रज्ञता हो या न हो। अनेकानेक सरल स्वभाव के ब्राह्मण गृहस्थ भी इस मिथ्या मान्यता के शिकार हो गये थे और इस कारण दैनिक जीवन में औरों के साथ गलत व्यवहार करने लगे थे।

इसी सच्चाई को प्रकट करती हुई एक और घटना देखें -

वेरहच्चानि

उन दिनों भगवान का एक शिष्य आयुष्मान उदायी कामंडा में तोदेय्य ब्राह्मण के आश्रम में विहार कर रहा था। उसी गांव में वेरहच्चानि नाम की ब्राह्मणी आचार्या थी, जिसका एक शिष्य एक दिन आचार्य उदायी से मिलने चला गया। उनसे धर्म-कथा सुन कर वह अत्यंत प्रसन्न-प्रभावित, हर्षित-उत्साहित हुआ। उसने लौट कर यह सूचना अपनी आचार्या को दी। सरल स्वभाव वाली ब्राह्मणी आचार्या यह सुन कर अत्यंत हर्षित हुई और उसने भिक्षु उदायी को अगले दिन भोजन के लिए आमंत्रित किया। भिक्षु उदायी आये। बड़े प्यार, सत्कार से ब्राह्मणी ने अपने हाथों उन्हें उत्तम भोजन परोसा। परंतु भोजनोपरांत जब धर्मदेशना का समय आया तो -

...पादुका आरोहित्वा उच्चे आसने निसीदित्वा सीसं ओगुण्ठित्वा,

- ...पांवों में पादुका पहने, ऊंचे आसन पर बैठे, शीश ढके,

आयुष्मान उदायी से बोली -

भण, समणधम्मं - श्रमण, अब धर्म कहो।

श्रमण ने प्रत्युत्तर में कहा -

भविस्सति, भगिनि, समयो - बहन, जब समय होगा, तब।

(सं० नि० २.४.२३३, वेखनसपुत्त)

यों कह कर उदायी उठ कर चले गये। ब्राह्मणी भौचक्की रह गयी। वह समझ ही नहीं पायी कि भिक्षु के सामने जूते पहन कर, सिर ढक कर, ऊंचे आसन पर बैठना असम्मान प्रकट करना है। वह जानबूझ कर भिक्षु का अपमान नहीं किया चाहती थी। वह तो सचमुच धर्म सुनने के लिए आतुर थी। परंतु अपनी परंपरागत मान्यताओं की रूढ़ियों में जकड़ी हुई थी। ब्राह्मण होने के कारण वह अन्य सभी से महान है, पूज्य है, यह समझती हुई स्वयं सम्मानित आसन पर बैठ गयी। जिससे धर्म सीखना था, उसे नीचा स्थान दिया। लेकिन शीघ्र ही उसे यह बात समझ में आ गयी कि ऐसा करके उसने व्यक्ति का नहीं, धर्म का अपमान किया है। धर्म का सत्कार करते हुए उसे जूते उतार कर, सिर उघाड़ कर, नीचे आसन पर बैठ कर धर्म की याचना करनी चाहिए थी। जैसे ही उसे यह भूल समझ में आयी, उसने भिक्षु को दूसरे दिन भोजन पर पुनः आमंत्रित कर अपनी भूल सुधारी। उसने इस बार भोजन खिला कर, उचित ढंग से धर्म की याचना की और शुद्ध धर्म से लाभान्वित होकर कृतार्थ हुई।

मिथ्या मान्यताओं के शिकार

उपरोक्त घटनाओं से यह स्पष्ट है कि कुछ ब्राह्मण तो कट्टरवादी और अनुदार थे, परंतु कई ऐसे भी थे जो अज्ञान अवस्था में अपनी परंपरागत मिथ्या मान्यताओं के शिकार थे। ब्राह्मणों का जन्म ब्रह्मा के मुख से होता है, अतः अन्य तीन वर्णों के लिए वे श्रेष्ठ हैं, पूज्य हैं; बाकी तीनों वर्ण ब्रह्मा द्वारा उनकी सेवा के लिए ही सृजित किये गये हैं - यह गलत मान्यता

सामान्यतया सारे समाज में और विशेषतया ब्राह्मण समाज में घर कर गयी थी। यह झूठी भी हो सकती है, इस ओर किसी का शायद ध्यान ही नहीं गया। इस मान्यता से स्वयं ब्राह्मणों की भी कितनी हानि हुई। इस मान्यता की जकड़न में जकड़ा हुआ व्यक्ति वाणी द्वारा शील और प्रज्ञा को हजार अच्छा कहता रहे, परंतु उनके पालन या धारण करने का काम नहीं ही करता। वह इस मिथ्या आत्म-संतोष और झूठे दंभ में सारा जीवन बिता देता है कि वह तो ब्राह्मण के घर जन्मा है। इसलिए वह तो शुद्ध और पवित्र है ही; भले उसका मानस कितना ही अशुद्ध और अपवित्र क्यों न हो। इस प्रकार अपना अनमोल मानवी जीवन अपने सुधार में न लगा कर व्यर्थ खो देता है। बहुत बड़ी हानि सबसे नीचे वर्ग के लोगों की होती है, जो हीन ग्रंथि के शिकार बने रहते हैं। उन्हें यह विश्वास ही नहीं होता कि वे भी सत्प्रयत्न करके धर्म धारण करते हुए कभी स्वयं ब्राह्मण बन सकेंगे। इस दिशा में कोई प्रयत्न ही नहीं करता। अतः वे भी अपना मानवी जीवन दीन-हीन, दलित अवस्था में ही खो देते हैं। बाकी दोनों वर्गों की भी कमो-बेश हानि ही होती है, क्योंकि जिस समाज में धर्म धारण करने के मुकाबले जाति, वर्ण प्रमुख हो जाता है, वह समाज धीरे-धीरे धर्म विमुख होता चला जाता है। यद्यपि अपनी मिथ्या आत्म-संतुष्टि के लिए लोग धर्म का गुणगान भले गाते रहें, पर धारण करने से अक्सर दूर ही रहते हैं। जिस चातुर्वर्णी व्यवस्था का आधार ही गलत हो, वह समाज के लिए लाभदायक कैसे हो पाती? इस दूषित व्यवस्था का यही दुष्परिणाम होना स्वाभाविक था।

इसी कारण असित कालदेवल जैसे ब्राह्मण ऋषियों द्वारा जातीय शुद्धता की मिथ्या मान्यता पर हमला होना शुरू हो गया था, यद्यपि वह क्षीण था और इतना प्रभावशाली नहीं था। परंतु भगवान बुद्ध ने कर्मप्रधान शुद्ध धर्म को प्रकाशित करते हुए इस विषैले जातिवाद का जो भरपूर खंडन करना आरंभ किया वह बहुत व्यापक हुआ और प्रभावशाली भी। इसी कारण उन दिनों समाज के कुछ एक समझदार लोग वर्ण को कर्म से जोड़ना पसंद करने लगे थे, परंतु फिर भी अधिकतर ऐसे ही थे जो इसे जन्म से ही जोड़े रखना चाहते थे। ये दोनों स्पष्ट धाराएं पिछले २६०० वर्षों से अब तक चली आ रही हैं। शुद्ध धर्म की कर्मप्रधान धारा भारत के मानसिक धरातल को

सींचती हुई नैतिकता के आधार पर आधुनिक युग तक प्राणवंत बनी रह सकी है। जन्म के आधार को महत्त्व देने वाली वर्णवाद की दूसरी धारा का नैतिक आधार दुर्बल होने पर भी यह अनेक कारणों से आज तक बलवान बनी रही है। हम बुद्ध-वाणी में इन दोनों धाराओं के दर्शन करते हैं।

वासिष्ठ और भारद्वाज

आचार्य पौष्करसाति के शिष्य और वसिष्ठ वंश के ब्राह्मण युवक वासिष्ठ तथा आचार्य तारुक के शिष्य और भारद्वाज वंश के ब्राह्मण युवक भारद्वाज को हम इन दोनों धाराओं का प्रतिनिधित्व करते हुए देखते हैं। दोनों मित्र थे, परंतु इस विषय में दोनों में गहरा मतभेद था। दोनों भगवान बुद्ध के पास आये और उनके सम्मुख उन्होंने अपना मतभेद प्रकट किया।

तब तक भगवान बुद्ध के उपदेश बहुप्रचलित हो चुके थे। अतः वासिष्ठ यह खूब समझता था कि भगवान उसकी मान्यता को बल देंगे और संभवतः इससे मित्र भारद्वाज अपना मत बदल ले। वासिष्ठ द्वारा समझाये जाने पर भारद्वाज अपने विचार बदलने को तैयार नहीं था। परंतु इस विषय में भगवान का मत सुनना चाहता था। इसीलिए अपने मित्र के साथ भगवान के पास चला आया। आते ही वासिष्ठ ने दोनों की समस्या भगवान के सम्मुख इस प्रकार प्रस्तुत की –

जातिया ब्राह्मणो होति, भारद्वाजो इति भासति।

– भारद्वाज का कहना है कि ब्राह्मण जन्म के आधार पर होता है।

जबकि –

अहञ्च कम्मुना ब्रूमि, एवं जानाहि चक्खुम।

– मैं कहता हूं कि ब्राह्मण कर्म के आधार पर होता है। हे चक्षुमान, (हमारे विवाद को) आप इस प्रकार जानें।

भारद्वाज इस बात पर अड़ा था कि जिसके माता-पिता दोनों ओर से सुजात हैं, और जिनका वंश पिछली सात पीढ़ियों तक जातिवाद की शुद्धता

लिए हुए है और इस बारे में रंचमात्र भी दूषित, कलंकित नहीं है, वही ब्राह्मण है और मैं मानता हूं कि जो शीलवान है, व्रतसंपन्न है, वह ब्राह्मण है।

हम एक दूसरे को समझा नहीं पाये इसलिए –

भवन्तं पुट्ठुमागमा, सम्बुद्धं इति विस्सुतं।

– हम आप भगवान से पूछने आये हैं; आप जो संबुद्ध के नाम से विश्रुत हैं, विख्यात हैं।

चन्दं यथा खयातीतं, पेच्च पञ्जलिका जना।
वन्दमाना नमस्सन्ति, एवं लोकस्मिं गोतमं॥

(म० नि० २.४५५, वासेट्ठसुत्त)

– जिस प्रकार लोग पूर्ण चंद्र को आदरपूर्वक नमस्कार करते हैं, वैसे ही इस संसार में लोग आप गौतम को भी नमस्कार करते हैं।

चक्खुं लोके समुप्पन्नं – आप लोक में चक्षु के रूप में उत्पन्न हुए हैं।

(म० नि० २.४५५, वासेट्ठसुत्त)

आप हमें बतायें कि ब्राह्मण 'जाति' यानी 'जन्म' से होता है या 'कर्म' से?

भगवान ने इस विषय को समझाते हुए कहा –

तरु-तृणों में, कीट-पतंगों में, चींटियों में, छोटे-बड़े चतुष्पद पशुओं में, दीर्घ-पीठधारी रेंगने वाले सरीसृपों में, जलचर मछलियों में और पंखधारी आकाशचारी पक्षियों में भिन्न-भिन्न जातिमय लक्षण हैं, जिनके कारण उनकी अपनी-अपनी, अलग-अलग जातियां होती हैं। परंतु मनुष्यों में इस प्रकार के भिन्न-भिन्न जातिमय लक्षण नहीं हैं, जो उन्हें अलग-अलग जातिवाला बनाये। मनुष्य की जाति तो एक ही है। (भिन्न भिन्न प्राणी अपने अपने जातीय लक्षणों के कारण भिन्न-भिन्न जाति वाले हैं। जैसे गौरय्या, कबूतर, कौआ, चील आदि की; जैसे शेर, बकरी, गाय, भालू आदि की; जैसे सांप, केंचुआ, कंसला [कनखजूरा] आदि की; जैसे सील, व्हेल, डाल्फिन आदि की अपनी-अपनी शारीरिक रचनाओं की विशेषताएं हैं; एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं; वैसी विभिन्नता मनुष्य-मनुष्य की शरीर-रचना में

नहीं दीखती)। मनुष्यों में भिन्नता केवल नाममात्र की है, शरीर-संस्थान की नहीं। अतः जन्म के आधार पर कोई व्यक्ति ब्राह्मण नहीं होता।

मनुष्यों में -

- जो गौ पालता है वह गौ-पालक है, ब्राह्मण नहीं।

- जो शिल्प का काम करता है वह शिल्पी है, ब्राह्मण नहीं।

- जो व्यापार करता है वह वैश्य है, ब्राह्मण नहीं।

- जो मजदूरी करता है वह मजदूर है, ब्राह्मण नहीं।

- जो चोरी करता है वह चोर है, ब्राह्मण नहीं।

- जो धनुष धारण कर युद्ध करता है, वह योद्धा है, ब्राह्मण नहीं।

- जो पुरोहितगिरी करता है, वह पुरोहित है, ब्राह्मण नहीं।

- जो गांव या राष्ट्र पर राज्य करता है, वह राजा है, ब्राह्मण नहीं।

- जो जिस साधन से जीविकोपार्जन करता है, उसे उसी नाम से जानना चाहिए; ब्राह्मण नाम से नहीं।

भगवान ने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा -

न चाहं ब्राह्मणं ब्रूमि, योनिजं मत्तिसम्भवं।

- किसी माता की योनि से उत्पन्न होने मात्र से मैं किसी को ब्राह्मण नहीं कहता।

जो संपत्तिशाली है, वह धनी कहलाने योग्य है, परंतु -

अकिञ्चनं अनादानं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ (ध० प० ३९६, ब्राह्मणवग्ग)

- जो अकिंचन है और तृष्णारहित है, मैं उसे ब्राह्मण कहता हूं।

और फिर बताया कि मैं उसी को ब्राह्मण कहता हूं -

- जो सारे बंधनों से मुक्त हो अतृष्ण है, निस्संग है; जो तृष्णा-रूपी रस्सियों को तोड़ कर, मिथ्या मान्यताओं के पगहे को नष्ट कर, मुँह पर बँधे जाल को दूर कर, कंधे पर पड़े जूए को फेंक कर बुद्ध हो गया है;

- जो आक्रोश को, भव-बंधन को अपना मन प्रदुष्ट किये बिना सह लेता है; क्षमा बल ही जिसका सैन्य बल है;

- जो अक्रोधी है, व्रती है, शीलवान है, अपरिग्रही है, शांत है, अंतिम शरीरधारी है;

- जो पानी में कमल की तरह, आरे की नोक पर न टिके रहने वाले सरसों के दाने की तरह काम-भोग में निर्लिप्त है;

- जो दुःख के नितांत क्षय को इसी जीवन में जान गया है और जिसने अपना बोझ उतार फेंका है और जो निःसंग है, विसंयुक्त है;

- जो गंभीरप्रज्ञ है, मेधावी है, मार्ग और अमार्ग का जानकार है, निर्वाणरूपी उत्तम अर्थ प्राप्त है;

- जो न गृहस्थों के प्रति आसक्त है, न गृह-त्यागियों के प्रति; जो स्वयं घर से बेघर होकर विहार करता है और अल्पेच्छ है;

- जो स्थावर और जंगम सभी प्राणियों के प्रति दंड यानी शस्त्र का त्याग कर चुका है, जो न स्वयं हत्या करता है, न दूसरों से हत्या करवाता है;

- जो विरोधियों के बीच अविरोधी हो रहता है, हिंसकों के बीच अहिंसक हो रहता है, जो लिप्तों के बीच अलिप्त हो रहता है;

- जिसके राग, द्वेष, मान और डाह उसी प्रकार च्युत हो गये हैं, जिस प्रकार आरे की नोक पर सरसों के दाने नहीं टिक पाते;

- जो अकर्कश एवं स्पष्ट अर्थ वाली वाणी का प्रयोग करता है; जो सच्ची वाणी बोलता है, जिससे किसी को चोट नहीं लगती;

- जो संसार में बड़ी या छोटी, नन्हीं या मोटी, सुंदर या असुंदर किसी वस्तु को भी नहीं चुराता;

- जो इस लोक या परलोक के प्रति कोई कामना नहीं रखता; जो ऐसा निष्पाप और निरासक्त है;

- जिसका कोई आलंबन नहीं है; जो परम ज्ञान के कारण संशयविहीन हो गया है; जो प्रगाढ़ अमृत-प्राप्त है;

– जो पाप और पुण्य दोनों के चिपकाव को त्याग चुका है; जो अशोक है, विमल, विरज और विशुद्ध है;

– जो चंद्रमा की भांति निर्मल है, शुद्ध है, स्वच्छ है, निर्दोष है; जिसने भव-तृष्णा का क्षय कर दिया है;

– जो इस दुर्गम और खतरनाक संसार-पथ के मोह को त्याग चुका है, जो संसार-सागर को तैर कर पार जा चुका है; जो ध्यानी है, वितृष्ण है, निःशंक है, निरासक्त है; जो निर्वाणलाभी हो गया है;

– जो यहीं काम-भोग का परित्याग कर गृहत्यागी प्रव्रजित हो गया है; जिसके काम-लोभ परिक्षीण हो गये हैं;

– जो तृष्णा को त्याग कर गृह-त्यागी प्रव्रजित हो गया है; जिसका तृष्णा का संसार परिक्षीण हो गया है;

– जो मानवी और दिव्य सभी संयोगों से परे हट गया है, जो सभी संयोगों से विमुक्त हो गया है;

– जो रति और अरति को त्याग कर मुक्त, शांत, शीतलीभूत हो गया है; जो वीर है, जिन है, सब लोकों का विजेता है;

– जिसने सब प्राणियों की च्युति यानी मृत्यु और उपपत्ति यानी जन्म को जान लिया है; जो अनासक्त है, सुगत है, बुद्ध है;

– जिसकी गति देव, मनुष्य और गंधर्व नहीं जान पाते, जो क्षीणास्रव है, अरहंत है;

– जिसके आगे, पीछे या मध्य में कहीं कोई परिग्रह नहीं, जो अपरिग्रही है, आसक्ति-रहित है;

– जो नरों में वृषभ है, प्रवर है, वीर है, महर्षि है, विजेता है; जो स्थिर है, स्नातक है और बुद्ध है;

– जिसने अपने पूर्व जन्मों के विषय में ज्ञान प्राप्त कर लिया है, जो स्वर्ग और नरक दोनों को दिव्य दृष्टि से देखता है और जो पुनर्जन्म से मुक्त हो चुका है –

भगवान ऐसे व्यक्ति को ही ब्राह्मण कहते हैं। सचमुच ऐसा व्यक्ति ही ब्राह्मण है।

वास्तविक ब्राह्मण की यह जो विशद विरुदावली भगवान ने प्रस्तुत की, वह किसी संप्रदाय की चारण-सदृश अतिशयोक्तिपूर्ण अभिव्यंजना नहीं थी। यह यथार्थ की अभिव्यंजना थी। स्वयं भगवान इन सभी गुणों को धारण किये हुए थे और जो लोग भगवान से शिक्षित होकर परम विमुक्त अवस्था तक पहुँचे, वे सभी अरहंत इन सभी गुणों से विभूषित थे और ऐसे लोग पांच-दस नहीं, सैकड़ों की संख्या में थे।

इस अवस्था पर जो भी पहुँचा वही ब्राह्मण हुआ; वास्तविक ब्राह्मण हुआ, केवल नाममात्र का ब्राह्मण नहीं।

केवल नामधारी ब्राह्मण इस श्रेणी में नहीं आते। वर्णवादियों के नाम नैसर्गिक कारणों पर आधारित नहीं हैं। ये नाम तो केवल लोक-व्यवहार के लिए प्रयुक्त होते हैं, जो कि महज प्रकल्पित हैं, बनावटी हैं और परंपरागत मान्यता से व्यवहृत होते चले आ रहे हैं।

समञ्ञा हेसा लोकस्मिं, नामगोत्तं पकप्पितं।

– ये प्रकल्पित नाम और गोत्र संसार में केवल संज्ञा अर्थात केवल व्यवहार-भर के लिए हैं।

सम्मुच्चा समुदागतं, तत्थ तत्थ पकप्पितं।

– जो-जो प्रकल्पित नाम-गोत्र जहां-जहां लोक मान्यता में घुस-पैठ गये और प्रचलित हो गये; वे वहां-वहां, वैसे-वैसे प्रयुक्त होते चले आ रहे हैं।

दीघरत्तमनुसयितं, दिट्ठिगतमजानतं।

– जो दार्शनिक मान्यताओं में जकड़े हुए अबोध लोग हैं, उनके अंतर्मन में लंबे अरसे से पैठी हुई यह मान्यता चली आ रही है।

अजानन्ता नो पब्रुवन्ति, जातिया होति ब्राह्मणो।

(सु० नि० ६५३-६५४, वासेट्ठसुत्त)

– (सच्चाई को) बिना जाने ही लोग कहते रहते हैं कि ब्राह्मण जन्म से होते हैं।

सचमुच सारा चातुर्वर्णी प्रपंच महज कल्पनाओं, कृत्रिमताओं, बनावटी मान्यताओं के लोक-व्यवहार पर आधारित है।

बहुत समय पहले किसी ने कह दिया कि ब्राह्मणों का कोई आदिपुरुष ब्रह्मा के मुख से जन्मा। पहले तो यही स्वीकार करने योग्य बात नहीं लगती कि कोई किसी के मुख से कैसे पैदा हुआ होगा? फिर यह भी कहा कि अन्य लोगों के पूर्वज ब्रह्मा की भुजा से, जांघ से अथवा पांव से जन्मे। ये सारी अनैसर्गिक बातें कैसे स्वीकार्य हो सकती हैं? परंतु इसे इस प्रकार कोई मान भी ले कि ब्रह्मा के मुख से धर्म सुन कर और उसका पालन करके कोई व्यक्ति ब्राह्मण हुआ, तो बाकी तीन वर्णों के अन्य अंगों से उत्पन्न होने की बात में क्या तुक है, क्या संगति है? बिल्कुल निसर्ग-विरोधी असंगत बातें हैं।

थोड़ी देर के लिए हम अन्य वर्गों की बात छोड़ भी दें और ब्रह्मा के मुख से सुने हुए धर्म को धारण कर किसी व्यक्ति के ब्राह्मण बन जाने की युक्ति को स्वीकार भी कर लें, तो पीढ़ियों तक उसकी संतान को ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुई कैसे मान लें भला? सच्चाई यह है कि निसर्ग के नियमों के अनुसार ये ब्राह्मणी माताओं की कोख से जन्मे हैं। तो ये सभी ब्राह्मण ब्रह्म-पुत्र कैसे हुए? परंतु कोई भी मिथ्या, काल्पनिक बात जब बार-बार दोहरायी जाती है, तो लंबे अरसे के बाद वह सही मान ली जाती है, विशेषकर किसी संप्रदाय में बँधे हुए संप्रदाय-भीरु अज्ञानी लोगों द्वारा। यही इस मान्यता के बारे में हुआ लगता है। तभी भगवान सच्चाई को बल देते हुए कहते हैं –

न जच्चा ब्राह्मणो होति, न जच्चा होति अब्राह्मणो।

– न जन्म से कोई ब्राह्मण होता है और न जन्म से अब्राह्मण।

कम्मुना ब्राह्मणो होति, कम्मुना होति अब्राह्मणो॥

– कर्म से कोई ब्राह्मण होता है, कर्म से ही अब्राह्मण।

और इसी प्रकार कर्म से ही कोई कृषक, कोई शिल्पी, कोई व्यवसायी, कोई सेवक, कोई चोर, कोई योद्धा, कोई याचक या कोई राजा होता है।

एवमेतं यथाभूतं, कम्मं पस्सन्ति पण्डिता।

– इस प्रकार समझदार लोग कर्म को यथाभूत सत्य के रूप में देखते हैं, समझते हैं।

पटिच्चसमुप्पाददस्सा, कम्मविपाककोविदा॥

– जो ज्ञानी लोग कर्म और कर्म-फल के नैसर्गिक नियमों को प्रतीत्यसमुत्पाद यानी कारणों से उत्पन्न होने वाले परिणाम के सिद्धांत के अनुसार जान लेते हैं, उनके लिए यह स्पष्ट हो जाता है कि –

कम्मुना वत्तति लोको, कम्मुना वत्तति पजा।

– कर्म से संसार चलता है, कर्म से प्रजा चलती है।

कम्मनिबन्धना सत्ता, रथस्साणीव यायतो॥

– सारे प्राणी अपने कर्मों से इसी प्रकार बँधे रहते हैं, जैसे कि रथ का चक्का अपनी अणि यानी आंकुड़े (कील) से बँधा रहता है।

इस तथ्य को जो समझ जाता है, उसके लिये यह समझना कठिन नहीं होता कि –

तपेन ब्रह्मचरियेन, संयमेन दमेन च।
एतेन ब्राह्मणो होति, एतं ब्राह्मणमुत्तमं॥

– तप से, ब्रह्मचर्य से, संयम और दम से ही कोई ब्राह्मण होता है। ऐसा ब्राह्मण ही उत्तम ब्राह्मण है।

तीहि विज्जाहि सम्पन्नो, सन्तो खीणपुनब्भवो।
एवं वासेट्ठ जानाहि, ब्रह्मा सक्को विजानतं॥

(सु० नि० ६५५, ६५८-६६१, वासेट्ठसुत्त)

– जो तीनों विद्याओं से सम्पन्न हैं, शांत हैं, पुनर्जन्म से मुक्त हैं, ऐसों को हे वासिष्ठ, तुम विज्ञ लोगों के शक्र और ब्रह्मा ही मानो।

भगवान की वाणी युक्तियुक्त थी, सार्थक थी। सारे समाज के साथ-साथ ब्राह्मणों के लिए विशेषरूप से कल्याणकारिणी थी। उसे वासिष्ठ और भारद्वाज दोनों ने समझा और दोनों ने भगवान की शरण ग्रहण की।

प्रव्रजित वासिष्ठ और भारद्वाज

कुछ समय पश्चात दोनों ने समझ लिया कि वास्तविक ब्राह्मण बनने के लिए उन्हें जो उद्यम करना होगा, वह गृहत्यागी के जीवन में ही समीचीन रूप से हो सकेगा। अतः दोनों भगवान के पास प्रव्रजित होने के लिए आये। उन्हें देख कर भगवान ने कहा – तुम ब्राह्मण के घर जन्मे, ब्राह्मण कुल के हो, यानी ब्राह्मण कुल से बेघर होकर प्रव्रजित होने आये हो। तो क्या ब्राह्मण लोग तुम्हें कोसते नहीं? तुम्हारी निंदा नहीं करते? तुम्हारी हँसी नहीं उड़ाते?

हां, भंते, ब्राह्मण लोग बहुत खुल कर हमारी हँसी उड़ाते हैं, हमारी निंदा करते हैं। वे कहते हैं –

"ब्राह्मण ही श्रेष्ठ है, अन्य नहीं। ब्राह्मण ही शुक्ल वर्ण है, अन्य सब कृष्ण वर्ण हैं। ब्राह्मण ही शुद्ध हैं, अन्य नहीं। ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुए ब्रह्मा की संतान हैं, ब्रह्म निर्मित हैं, ब्रह्म उत्तराधिकारी हैं। तुम इस श्रेष्ठ अवस्था से पतित हो गये हो। ये मथमुंडे श्रमण नीच हैं, काले हैं, भ्रष्ट हैं, ब्रह्मा के पैर से जन्मे हैं। यों ऊंचे वर्ण से गिर कर नीचे वर्ण में जा मिलना तुम्हारे लिए शोभनीय नहीं है। तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए।"

इस पर भगवान ने कहा – वे सच्चाई को जानते नहीं। इसलिए ऐसी गलत बातें कहते हैं।

ते ब्रह्मानञ्चेव अब्भाचिक्खन्ति।

– वे ब्रह्मा पर भी दोषारोपण करते हैं (कि उसने संसार की रचना में ऐसा पक्षपात किया)।

मुसा च भासन्ति – वे झूठ बोलते हैं।

बहुञ्च अपुञ्ञं पसवन्ति – बहुत अपुण्य कमाते हैं।

(दी० नि० ३.११४, अग्गञ्ञसुत्त)

कोई कितना ही विरोधी क्यों न हो, पर जब भगवान की युक्तिसंगत, न्यायसंगत, तर्कसंगत, बुद्धिसंगत और धर्मसंगत बात सुनता तो भगवान

का ही होकर रह जाता था। उसका विरोध अपने आप दूर हो जाता था। पर कोई ऐसा विरोधी हो, जो भगवान से मिले ही नहीं; धीरज के साथ उनकी बात सुने ही नहीं; उसका पालन करे ही नहीं; तो अपने ही लाभ से वंचित रह जाता था। भगवान इसमें क्या करते? वे तो स्थान-स्थान पर, समय-समय पर, शुद्ध धर्म को इस उदाहरण से या उस उदाहरण से, इस युक्ति से या उस युक्ति से समझाते ही रहते थे।

मनुष्य की जाति एक है

चाहे काला हो या सफेद, भालू 'भालू' है, उसकी यही जाति है। काले और सफेद भालू के नर-मादा का परस्पर संयोग हो और उससे जो संतान हो, वह भालू ही होगा, भले काला हो या सफेद या चितकबरा। घोड़ा अरबी हो या सिंधी, घोड़ा 'घोड़ा' ही है, उसकी यही जाति है। अरबी और सिंधी घोड़े-घोड़ी के संयोग से जो संतान हो, वह घोड़ा ही होगा और कुछ नहीं। गधा-गधी दिल्ली के हों या काबुल के, उनके पारस्परिक संयोग से जो संतान हो, वह गधा ही होगा और कुछ नहीं। मनुष्य 'मनुष्य' ही है, चाहे वह ब्राह्मण कहलाये या क्षत्रिय कहलाये। ब्राह्मण और क्षत्रिय नर-मादा के परस्पर संयोग से जो संतान हो, वह मनुष्य ही होगा चाहे उसे ब्राह्मण नाम से पुकारें या क्षत्रिय नाम से, क्योंकि मनुष्य की एक ही जाति है। साधारणतया एक जाति के प्राणी का दूसरी जाति के प्राणी से काम-संभोग नहीं होता। परंतु यदि हो जाय, जैसे किसी घोड़े का किसी गधी से, तो उसकी जो संतान हो, वह अलग जाति की होगी। न उसे घोड़ा कहेंगे न गधा। उसकी अपनी जाति होगी, जिसे खच्चर कहेंगे। इसी प्रकार ब्राह्मण मनुष्य और क्षत्रिय मनुष्य की जाति अलग-अलग होती, तो उनके नर-मादा के संयोग से जो संतान उत्पन्न होती, वह मनुष्य न होकर कुछ और होती। परंतु ऐसा तो नहीं ही होता।

इसलिए मनुष्य-मनुष्य की एक ही जाति है, अलग-अलग नहीं। जब भगवान ने इस युक्ति से सच्चाई समझायी, तो ब्राह्मण माणवक आश्वलायन के पास विवाद करने के लिए कोई उत्तर नहीं था। उसे कहना

पड़ा - हां, घोड़े और गधे की जाति में भेद देखता हूं, ऐसा भेद ब्राह्मण और क्षत्रिय में नहीं देख पाता।

उन दिनों के कुछ एक आचार्य और उनके अनुयायी ऐसे भी थे जो अच्छे बुरे कर्म का अच्छा बुरा फल प्राप्त होने के नैसर्गिक नियम को नहीं मानते थे। परंतु अधिकांश ब्राह्मण सामान्यतया इस कर्म सिद्धांत को मानते थे। इसी नियम के आधार पर भगवान उन्हें समझाते थे।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और चांडाल में से कोई-कोई दुःशील, दुराचारी होते हैं, कोई-कोई सुशील और सदाचारी। ऐसा तो होता नहीं कि ब्राह्मण कहलाने वाले सभी लोग सुशील और सदाचारी ही हों, उनमें कोई दुराचारी हो ही नहीं और यह भी नहीं होता कि बाकी सारे वर्ण दुराचारी ही हों, उनमें कोई सदाचारी हो ही नहीं। तो ब्राह्मणों की यह मान्यता कैसे उपयुक्त है कि ब्राह्मण ही शुद्ध हैं, श्रेष्ठ हैं, बाकी सारे वर्ण अशुद्ध हैं, हीन हैं?

ब्राह्मण, वैश्य, क्षत्रिय, शूद्र, चांडाल - इनमें से कोई भी हो, यदि वह सदाचारपूर्ण जीवन जीकर, सत्कर्म करके मरता है तो सद्गति ही प्राप्त करता है, देवलोक में जन्मता है। इसी प्रकार इनमें कोई भी दुराचारपूर्ण दुष्कर्म करके मरता है तो दुर्गति प्राप्त करता है, अधोलोक में जन्मता है। तब यह कैसे माना जाय कि ब्राह्मण ही श्रेष्ठ और शुद्ध हैं, बाकी सब हीन और अशुद्ध हैं?

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और चांडाल में से जो भी चाहे, चारों ध्यानों में संपन्न हो सकता है। मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा - इन चार ब्रह्मविहारों का अभ्यास कर सकता है। इन ध्यान भावनाओं पर मात्र ब्राह्मणों का एकाधिकार नहीं है। जब सब कर सकते हैं, तो जिस किसी वर्ण का व्यक्ति यह ध्यान करता है, वह मर कर ब्रह्मलोक में ही जन्म लेता है। फिर इस मान्यता में क्या तुक है कि ब्राह्मण ही श्रेष्ठ और शुद्ध हैं, बाकी सारे वर्ण हीन और अशुद्ध हैं?

सामान्य लौकिक क्षेत्र में भी इनमें कोई भेद-भाव नहीं होता। ब्राह्मण हो या अन्य किसी वर्ण का व्यक्ति, वह स्नान-चूर्ण लेकर नदी में जाकर अपने

शरीर का मैल धो सकता है। आज की भाषा में कहें, तो जो भी व्यक्ति साबुन लगा कर नहाता है, वह अपना शारीरिक मैल उतार लेता है। इस पर केवल ब्राह्मण का एकाधिकार नहीं है। तब ब्राह्मण ही श्रेष्ठ, शुद्ध कैसे हुए, बाकी सब हीन, अशुद्ध कैसे हुए?

उन दिनों दो लकड़ियों को रगड़ कर आग उत्पन्न की जाती थी। वे लकड़ियां चाहे चंदन की हों या नीम की, उनके रगड़ने पर जो आग निकलती है वह एक जैसी होती है। इन लकड़ियों को रगड़ कर आग पैदा करने वाला व्यक्ति ब्राह्मण हो या अन्य किसी वर्ण का, वह जो आग उत्पन्न करता है उसमें कोई भेद नहीं होता। ब्राह्मण की उत्पन्न की हुई आग अधिक तेजस्वी तथा औरों की कम तेजस्वी तो नहीं ही होती।

एत्थ, अस्सलायन, ब्राह्मणानं किं बलं, को अस्सासो, यदेत्थ ब्राह्मणा एवमाहंसु - 'ब्राह्मणोव सेट्ठो वण्णो, हीनो अञ्ञो वण्णो'।

(म० नि० २.४०३, अस्सलायनसुत्त)

- तो हे आश्वलायन, यहां ब्राह्मण किस बल पर, किस आश्वासन पर ऐसा कहते हैं कि - ब्राह्मण ही शुद्ध और श्रेष्ठ हैं। अन्य सभी दीन-हीन और अशुद्ध हैं।

सेवा धर्म

जब किसी धर्मग्रंथ के प्रति अंधश्रद्धा उत्पन्न कर दी जाती है, तब उसमें वर्णित किसी नितांत अनीतिपूर्ण मान्यता का भी विरोध करना सामान्य लोगों के लिए कठिन हो जाता है। धीरे-धीरे यह गलत मान्यता अंधमान्यता बन जाती है। समाज में जैसे-जैसे अविद्या का अंधकार फैलता जाता है, वैसे-वैसे ऐसी अंध-मान्यताएं लोगों के अंतर्मन में गहरी पैठती जाती हैं और इस प्रकार रच-बस जाती हैं कि लोग सामान्य बुद्धि द्वारा उनकी जांच तक करना भूल जाते हैं। जब कोई व्यक्ति बुद्ध बनता है तो उसके भीतर विद्या जागती है; प्रज्ञा का आलोक उत्पन्न होता है तो उसको सारी सच्चाई समझ में आ जाती है। उसके भीतर धर्म पुष्ट होता है, यानी शील, समाधि पुष्ट होते हैं और प्रज्ञामयी करुणा जागती है। तब वह उन

ठगने वालों और ठगे जाने वालों का समान रूप से उपकार करते हुए शुद्ध धर्म बांटता है। लोगों को अंध-विश्वास के अंधेरे से बाहर निकालता है।

इससे संबंधित एक घटना –

एसुकारी ब्राह्मण

उन दिनों भगवान श्रावस्ती के जेतवन में विहार कर रहे थे। तब एसुकारी नामक ब्राह्मण उनके पास आया और उनसे बोला –

भंते, ब्राह्मण चार प्रकार की परिचर्याएं यानी सेवाएं प्रज्ञापित करते हैं –

(१) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारों वर्णों के लोग ब्राह्मण की सेवा करें।

(२) क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये तीनों वर्णों के लोग क्षत्रिय की सेवा करें।

(३) वैश्य और शूद्र ये दोनों वर्णों के लोग वैश्य की सेवा करें।

(४) शूद्र की सेवा केवल शूद्र ही करे।

ये चार सेवा धर्म लोगों में प्रचलित किये गये थे। भगवान ने उनका जोरदार खंडन किया और कहा –

किं पन, ब्राह्मण, सब्बो लोको ब्राह्मणानं एतदब्भनुजानाति – 'इमा चतस्सो पारिचरिया पञ्ञपेन्तू'ति।

(म० नि० २.४३७, एसुकारीसुत्त)

– हे ब्राह्मण, क्या संसार के सारे लोगों ने एक मत होकर ब्राह्मणों को यह अनुज्ञा दी है, ऐसा अधिकार दिया है कि वे इन चार सेवाओं की घोषणा करें, प्रज्ञापना करें?

स्पष्ट है ऐसी अनैतिक मान्यताएं लोगों पर थोपी गयी थीं। ऐसी अवैज्ञानिक और मनगढ़ंत वर्ण-व्यवस्था की स्थापना स्वार्थ वृद्धि के कारण की गयी थी ताकि हर ऊंचे वर्ण का व्यक्ति अपने से नीचे वर्ण वालों का भरपूर शोषण कर सके और अपने धर्मग्रंथों के ईश्वर निर्मित होने की दुहाई

देकर इस अनीतिपूर्ण शोषण को भविष्य के लिए भी चिरस्थायी बनाए रखा जा सके।

भगवान ने परिचर्या यानी सेवा धर्म की नैतिक, वैज्ञानिक और कल्याणकारी व्याख्या की। उन्होंने कहा कि परिचर्या उसी की करनी चाहिए, जिससे सेवक का सही हित होता हो, अहित नहीं। उच्च कुल अथवा गौर वर्ण अथवा धन-संपन्न हो जाने मात्र से ही कोई व्यक्ति सेवा करवाने का अधिकारी नहीं हो जाता। किसी की भी सेवा करने से सेवक का क्या हित होता है, यह देखना आवश्यक है। कुल, वर्ण और धन से ही कोई व्यक्ति सत्पुरुष नहीं हो जाता कि जिसकी सेवा करने से सेवक का सही हित सध सके। सही हित तभी सधता है जब कि –

यं हिस्स, ब्राह्मण, परिचरतो पारिचरियाहेतु सद्धा वड्ढति, सीलं वड्ढति, सुतं वड्ढति, चागो वड्ढति, पञ्ञा वड्ढति,

– (हे ब्राह्मण) जिसकी परिचर्या यानी सेवा-संगत करने से श्रद्धा बढ़ती है, शील सदाचार बढ़ता है, श्रुत-ज्ञान बढ़ता है, त्याग की भावना बढ़ती है और प्रज्ञा बढ़ती है –

तमहं परिचरितब्बन्ति वदामि।

(म० नि० २.४३९, एसुकारीसुत्त)

– उसे ही मैं सेवा-संगत योग्य कहता हूं।

उच्च कुल का व्यक्ति या गौर वर्ण का व्यक्ति या धनवान व्यक्ति दुर्जन भी हो सकता है और सज्जन भी। दुर्जन की सेवा-संगत करे तो किसी का कल्याण कैसे सधेगा? चाहे वह उच्च कुल का हो, शुक्ल वर्ण का हो या धनी वर्ग का ही क्यों न हो। संत, सज्जन की सेवा-संगत करे तो सही हित सधता ही है, भले वह व्यक्ति उच्च कुल का हो या नीच कुल का, शुक्ल वर्ण का हो या अशुक्ल वर्ण का, धनवान हो या धनहीन।

जब कोई व्यक्ति भगवान से ऐसी शुद्ध, सात्त्विक, नैसर्गिक धर्म की सीधी, सरल, निःस्वार्थ भाव से कही गयी बातें सुनता था, तब वह भगवान का और उनके बताये हुए शुद्ध धर्म का अनुगामी बन जाता था। परंतु जो

सुनना ही न चाहे, समझना ही न चाहे, उसका भला भगवान भी क्या कर सकते थे। उसका भला कोई और भी क्या कर सकता था।

स्वधन

इसी प्रसंग में एसुकारी ब्राह्मण ने भगवान को कहा कि ब्राह्मण चारों वर्णों के लिए चार प्रकार के अलग-अलग स्वधन बनाते हैं-

(१) ब्राह्मणों का स्वधन दान प्राप्त कर जीविकोपार्जन करना है।

(२) क्षत्रियों का स्वधन शस्त्र-विद्या द्वारा जीविकोपार्जन करना है।

(३) वैश्यों का स्वधन कृषि और गो-रक्षा द्वारा जीविकोपार्जन करना है।

(४) शूद्रों का स्वधन लकड़ी काटने, सामान ढोने आदि-आदि सेवा-कार्यों द्वारा जीविकोपार्जन करना है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अपने-अपने लिए निर्धारित क्षेत्र में ही जीविकोपार्जन करें। किसी अन्य के क्षेत्र में जीविकोपार्जन करना वैसे ही दोषपूर्ण है, जैसे कोई ग्वाला पराये गायों को चराने ले जाय और उनका दूध दुग्ध कर पी ले।

लगता है समय पाकर परवर्ती साहित्य में यही स्वधन 'स्वधर्म' कहा जाने लगा और लोगों के मन में यह बात कूट-कूट कर भर दी गयी कि जो व्यक्ति जिस वर्ण में जन्मा है, वह उसी वर्ण के लिए निर्धारित आजीविका अपनाए; किसी अन्य वर्ण की आजीविका भूल कर भी न अपना ले। जिसकी जो आजीविका निर्धारित कर दी गयी, वही उसका धर्म है।

जब ब्राह्मण एसुकारी ने भगवान से इस पर भी अपने विचार प्रकट करने को कहा, तो भगवान ने वही प्रतिप्रश्न पूछते हुए उत्तर दिया-

हे ब्राह्मण, क्या संसार के सारे लोगों ने एकमत होकर ब्राह्मणों को यह अनुज्ञा दी, ऐसा अधिकार दिया कि वे इस प्रकार चार स्वधनों की प्रज्ञापना करें?

स्पष्ट है कि भगवान की मनोवृत्ति जनतांत्रिक थी। किसी एकतांत्रिक प्रणाली द्वारा किसी एक व्यक्ति या वर्ग के स्वार्थ हेतु ऐसे पक्षपातपूर्ण नियम निर्धारित कर दिया जाना उन्हें बिल्कुल स्वीकार्य नहीं था। औरों की सहमति बिना कोई कैसे अपने लिए सबसे ऊंचा पद और सबसे अधिक सहूलियतें सुविधाएं निश्चित कर सकता है और उनके अनचाहते हुए भी दूसरों को नीची श्रेणी की ओर धकेल सकता है और उनकी सुविधा, सहूलियतें छीन सकता है। भगवान ने जोर जबरदस्ती वाली इस मनमानी व्यवस्था का खंडन करते हुए कहा – किसी को मांस से परहेज हो, उसे मांस स्वीकार्य नहीं हो, तो भी उसके मत्थे मांस का हिस्सा जबरन चढ़ा कर कोई कहे कि यह तुम्हारा हिस्सा है, तुम्हें लेना होगा और यही नहीं, तुम्हें इसकी कीमत भी चुकानी होगी। किसी के न चाहते हुए भी एक तो उस पर यह जालिम चातुर्वर्णी व्यवस्था थोपी जाय, जिससे कि वह समाज में सबसे घटिया आदमी मान लिया जाय और तिस पर जुर्माना यह कि अब तुम्हें इस व्यवस्था की कीमत स्वरूप सभी लोगों की सेवा करनी होगी। इस पर भी तुर्रा यह कि इस व्यवस्था की यह कीमत तुम्हें ही नहीं पीढ़ियों तक तुम्हारी संतान को चुकाते रहना होगा। करुणासागर भगवान बुद्ध के लिए ऐसी गलत बात कैसे स्वीकार्य हो सकती थी?

भगवान बड़े प्यार से लोगों को समझाते थे कि इन चारों वर्णों का विभाजन केवल संज्ञा के लिए यानी नाममात्र के लिए है; मात्र लोक व्यवहार के लिए है। इसमें कोई वास्तविक भेदभाव नहीं है। जैसे कोई अग्नि काठ से उत्पन्न होती है, उसे लोक व्यवहार के लिए काठ की अग्नि कहते हैं, गोबर से उत्पन्न होती है, तो गोबर की अग्नि कहते हैं, तृणों से उत्पन्न होती है, तो तृण की अग्नि कहते हैं। यह केवल उसका नामकरण-मात्र है। आग तो आग है, उसकी गर्मी या उष्णता में कोई भेद नहीं होता। वैसे ही ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने के कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय कुल में उत्पन्न होने के कारण क्षत्रिय, वैश्य कुल में उत्पन्न होने के कारण वैश्य और शूद्र कुल में उत्पन्न होने के कारण शूद्र नाम पड़ जाता है। यह केवल लोक व्यवहार की बात है। वस्तुतः आदमी-आदमी में कोई भेद नहीं होता। धर्म के क्षेत्र में सब समान हैं। कोई व्यक्ति किसी कुल में जन्मा हो, यदि वह शील, समाधि और प्रज्ञा

के अभ्यास में लग जाता है और ध्यान तथा विपश्यना द्वारा परम-पद निर्वाण का साक्षात्कार कर लेता है, तो जीवन्मुक्त हो ही जाता है। धर्म के क्षेत्र में न किसी एक जाति के लिए विशेष सुविधा है और न किसी दूसरी के लिए कम सुविधा। न किसी एक कुल से गृहत्यागी होकर अरहंत हुआ व्यक्ति कम विमुक्त है और न दूसरे कुल से गृहत्यागी हो अरहंत हुआ अधिक विमुक्त। धर्म के क्षेत्र में सभी समान हैं। शुद्ध सनातन आर्य-धर्म सबका स्वधन है, सबका स्वधर्म है। सबके लिए खुला क्षेत्र है। जो मेहनत करे सो फल पावे। न किसी एक वर्ण के प्रति पक्षपात है और न किसी दूसरे के प्रति पूर्वाग्रह।

केवल प्रचार-घोष

भगवान धर्म का वर्ण-विहीन, विशुद्ध स्वरूप ही सिखाते थे। लोक कल्याण के लिए उनके भिक्षु-शिष्य भी लोगों को यही प्रज्ञापित करते थे।

भदंत कात्यायन अपने भिक्षु-पूर्व जीवन में अवंतिराज के ब्राह्मण राजपुरोहित के पुत्र थे। भगवान के संपर्क में आकर गृहत्यागी भिक्षु हुए और समय पाकर अरहंत हुए। वे अपनी मातृभूमि में धर्म सिखाने के लिए गये हुए थे। देश के राजा ने सुना, तो उनके दर्शनार्थ वहां गया जहां वे ठहरे हुए थे।

अभिवादन कर राजा ने प्रश्न किया – ब्राह्मण कहते हैं कि ब्राह्मण ही श्रेष्ठ, शुद्ध हैं बाकी सभी वर्ण नीच और अशुद्ध हैं, क्योंकि ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुए हैं। इस बारे में आपका क्या मत है?

कात्यायन ने इसे महज हल्ला-गुल्ला बताया, हो-हल्ला बताया। बताया कि यह किसी इकतरफा प्रचार का तुमुल घोष मात्र है, जो वास्तविकता से बिल्कुल परे है।

उन्होंने अवंति-नरेश को समझाते हुए कहा कि सामान्य लोक व्यवहार के क्षेत्र में भी मात्र ब्राह्मण ही श्रेष्ठ कहां है? किसी भी वर्ण का व्यक्ति यदि धन-सत्ता संपन्न हो, तो वह अपनी सेवा के लिए चारों वर्णों में से किसी को भी नौकर रख सकता है और रखता ही है। उस पर कहीं कोई प्रतिबंध नहीं

है। चारों वर्णों के लोग अपनी आजीविका के लिए किसी के यहां भी वेतनभोगी होकर सेवा करते हैं। किसी भी वर्ण के धनी मालिक का नौकर चाहे जिस वर्ण का हो, मालिक के प्रति खुशामदी और प्रियवादी ही होता है।

अतः वास्तविकता के धरातल पर इन चारों वर्णों में कहां भेद है? भेद-भाव की सारी बातें निरर्थक घोष मात्र हैं, हो-हल्ला मात्र हैं।

फिर कात्यायन ने अवंति-नरेश से पूछा –

चारों वर्णों में से किसी भी वर्ण का व्यक्ति चोरी करते हुए पकड़ा जाए तो तुम उसे वही दंड दोगे जो एक चोर को दिया जाता है अथवा उसका वर्ण देख कर दंड देने में भेदभाव बरतोगे?

अवंति-नरेश ने कहा – अपराधी व्यक्ति मेरे लिए चोर ही है। न वह ब्राह्मण है, न क्षत्रिय है, न वैश्य है, न शूद्र। इसलिए जो सजा एक चोर को दी जानी चाहिए, वही उसे मिलेगी। राज्य की दंड संहिता में वर्ण को लेकर कोई भेदभाव नहीं होता।

फिर कात्यायन ने पूछा कि किसी भी वर्ण का कोई व्यक्ति घर-बार छोड़ कर संन्यासी हो जाय और त्याग, तपस्या का जीवन जीने लगे, तो तुम उसका सम्मान करते हुए क्या पहले यह देखोगे कि यह किस वर्ण से संन्यासी हुआ है?

अवंति-नरेश ने स्वीकार किया कि संन्यासी 'संन्यासी' है। यदि शीलवान है, सदाचारी है, त्यागी है, तपस्वी है, तो उसने चाहे जिस वर्ण से घर त्यागा हो, वह सम्मान का पात्र है।

इस पर कात्यायन ने कहा कि इससे भी समझना चाहिए कि यह मात्र प्रचार का हो-हल्ला ही है कि ब्राह्मण श्रेष्ठ और शुद्ध हैं, अन्य नहीं।

इसी प्रकार कोई किसी भी वर्ण का व्यक्ति हो, यदि वह दुष्ट, दुराचारी, दुर्जन है तो मर कर नरक में ही जाएगा। यदि वह शिष्ट, सदाचारी और सज्जन है तो मर कर स्वर्ग में ही जाएगा।

अतः यह मात्र हो-हल्ला है, इकतरफा मिथ्या प्रचार का घोष मात्र है कि ब्राह्मण ही श्रेष्ठ हैं, शुद्ध हैं, अन्य नहीं।

सेना में भर्ती

इसी प्रकार भगवान ने भी बहुत मैत्रीपूर्ण चित्त से यही समझाया कि जिस राजा को अपनी सेना के लिए सैनिकों को भर्ती करना हो, वह यह नहीं देखता कि किस वर्ण के लोग सेवा में लिए जायँ। किसी भी वर्ण का व्यक्ति हो, यदि वह बलवान है, हथियार चलाने में कुशल है, तो उसे सेना में भर्ती कर ही लिया जाता है। अतः महत्ता गुणों की होती है, योग्यता की होती है, जाति की नहीं।

एक बार किसी प्रसंग में भगवान ने कोशलेश प्रसेनजित से पूछा – मान लो कोई युद्ध छिड़ जाय। आपको सेना बढ़ानी हो। सेना में भर्ती होने के लिए आपके पास कोई क्षत्रिय, वैश्य, ब्राह्मण या शूद्र आये, जिसने शस्त्र विद्या खूब सीखी हो, परंतु हो बड़ा कायर, डरपोक; युद्ध में पीठ दिखाने वाला, तो क्या आप उसे सेना में भर्ती करेंगे?

–"नहीं, भंते, कदापि नहीं। ऐसा व्यक्ति मेरे किस काम का?"

–"इसी प्रकार महाराज, किसी भी वर्ण का व्यक्ति आपके पास आये और वह शस्त्र विद्या में निपुण हो, साथ-ही-साथ बलवान हो, निर्भय हो, युद्ध में पीठ न दिखाने वाला हो, तो क्या आप उसे सेना में भर्ती कर लेंगे?

–"निश्चय ही, भंते, जो व्यक्ति मेरे काम का होगा, उसे मैं सेना में भर्ती कर लूंगा। इस मामले में मैं जाति, गोत्र, वर्ण नहीं देखूंगा। इसमें जाति क्या करेगी?"

इस पर भगवान ने कहा –

इस्सत्तं बलवीरियञ्च, यस्मिं विज्जेथ माणवे।
तं युद्धत्थो भरे राजा, नासूरं जातिपच्चया॥

(सं० नि० १.१.१३५, इस्सत्तसुत्त)

– जिस युवक में (धनुर्विद्या पर) स्वामित्व है, बल है, वीर्य है, राजा उसी को युद्ध के लिए सेना में भर्ती करेगा, महज जाति के कारण किसी बलहीन को नहीं।

पांच प्रकार के ब्राह्मण

द्रोण नामक एक ब्राह्मण भगवान से विवाद करने आया। उसके पूछने पर भगवान ने कहा – अष्टक, वामक, वामदेव, विश्वामित्र, यमदग्नि, अंगिरस, भारद्वाज, वसिष्ठ, काश्यप और भृगु जो कि ब्राह्मण-परंपरा के ग्रंथों के रचयिता थे, उन्होंने पांच प्रकार के ब्राह्मण बतलाये हैं। यथा –

(१) ब्रह्मसम, (२) देवसम, (३) मर्यादावान, (४) मर्यादा भंजक और (५) ब्राह्मण चांडाल।

(१) ब्रह्मसम ब्राह्मण

यह माता-पिता दोनों ओर से सुजात, माता-पिता की सात पीढ़ियों तक शुद्ध रक्त वाला होता है। अड़तालीस वर्ष की उम्र तक आचार्य के पास ब्रह्मचर्यवास करते हुए मंत्र पढ़ता है। पढ़ाई पूरी कर गुरु-दक्षिणा के लिए किसी व्यापार-धंधे से, अस्त्र-शस्त्र से या सरकारी नौकरी से नहीं, बल्कि लोगों से भिक्षा मांग कर धन एकत्र करता है। यों गुरु-दक्षिणा के ऋण से मुक्त होकर, गृहस्थ-धर्म में प्रवेश न कर प्रव्रजित होता है। मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा ब्रह्म-विहारों की साधना-भावना में रत हो जाता है। ऐसा व्यक्ति मरने पर सुगति को प्राप्त हो ब्रह्मलोक में जन्म लेता है। इस कारण यह ब्राह्मण ब्रह्मसम होता है।

(२) देवसम ब्राह्मण

पहले जैसा ही यह ब्राह्मण अड़तालीस वर्ष ब्रह्मचर्यवास में बिता कर भिक्षाटन द्वारा धन प्राप्त कर गुरु-दक्षिणा के ऋण से उऋण होता है। यह संन्यासी होने की अपेक्षा गृहस्थ होता है और अपने लिए धर्म से भार्या खोजता है। क्रय-विक्रय से नहीं बल्कि पात्र में जल छोड़ कर धर्मपूर्वक दी गयी ब्राह्मणी ही खोजता है, न क्षत्रियाणी, न वैश्याणी, न शूद्राणी, न चंडालिनी, न निषादिनी, न बांस के सामान बनाने वाली, न रथकारिणी

और न पुक्कुसी। वह अपनी विवाहिता ब्राह्मणी के पास उस समय नहीं जाता है, जबकि वह गर्भिणी हो, स्तनपायिनी हो अथवा रजस्वला हो। वह पुत्र या पुत्री उत्पन्न कर संन्यास ले लेता है और प्रथम से चतुर्थ ध्यान का अभ्यास करता है। ऐसा व्यक्ति मरने पर सुगति प्राप्त करता है, देवलोक में जन्मता है। ऐसा ब्राह्मण देवसम होता है।

(३) मर्यादावान ब्राह्मण

पहले जैसा ही यह ब्राह्मण अड़तालीस वर्ष ब्रह्मचर्य का वास कर आचार्य-दक्षिणा चुका कर गृहस्थ जीवन अपनाता है। धर्मपूर्वक भार्या लाता है। वह पुत्र या पुत्री उत्पन्न करके भी घर-बार नहीं त्यागता। जीवन भर पुराने ब्राह्मणों की मर्यादानुसार गृहस्थ जीवन जीता है। मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता। ऐसा ब्राह्मण मर्यादावान ब्राह्मण होता है।

(४) मर्यादा को तोड़ने वाले ब्राह्मण

पहले जैसा ही यह ब्राह्मण अड़तालीस वर्ष ब्रह्मचर्यवास कर शिक्षा पूरी होने पर आचार्य-दक्षिणा चुकाता है। फिर भार्या खोजता है। यह किसी प्रकार से भी भार्या प्राप्त करता है; धर्म से भी अथवा अधर्म से भी, क्रय से भी, अथवा विक्रय से भी। यह ब्राह्मणी के पास भी जाता है, क्षत्रियाणी के पास भी और उसके पास भी जो रजस्वला हो। इसकी ब्राह्मणी भार्या केवल काम-क्रीड़ा के लिए ही होती है। पुराने ब्राह्मणों की जो मर्यादाएं थीं, उन्हें यह तोड़ता है। ऐसा ब्राह्मण संभिन्न-मर्याद यानी मर्यादा भंजक ब्राह्मण कहलाता है।

(५) चांडाल ब्राह्मण

यह भी औरों की भांति अड़तालीस वर्ष ब्रह्मचर्य का पालन कर आचार्य से पूरी शिक्षा प्राप्त कर उसे आचार्य-दक्षिणा देता है, जो कि धर्म से भी प्राप्त करता है अथवा अधर्म से भी। यह जो भार्या खोजता है, वह धर्म से अथवा

अधर्म से भी। यह गर्भिणी के पास भी जाता है, रजस्वला के पास भी। इसकी ब्राह्मणी काम-क्रीड़ा के लिए ही होती है। यह हर प्रकार के अच्छे बुरे काम करके अपनी आजीविका चलाता है और लोगों से कहता है कि जैसे आग शुचि को भी जला देती है, अशुचि को भी जला देती है पर स्वयं अशुद्ध नहीं होती, वैसे ही ब्राह्मण सब प्रकार के कामों से जीविका उपार्जन करके भी अशुद्ध नहीं होता। ऐसा ब्राह्मण चांडाल ब्राह्मण कहलाता है।

भगवान ने द्रोण से पूछा कि अब तुम बताओ, इन पांचों ब्राह्मणों में से तुम किस श्रेणी के ब्राह्मण हो?

बेचारा द्रोण खिसिया गया। उसने यही कहा कि मैं तो चांडाल-ब्राह्मण की श्रेणी में भी नहीं आ पाऊंगा। उन दिनों अड़तालीस वर्ष ब्रह्मचर्यवास की परंपरा ही नष्ट हो चुकी थी।

पशुओं से भी हीन

एक अवसर पर भगवान ने कहा -

पूर्व काल के ब्राह्मणों ने जो पांच धर्म गिनाये, वे उनका पालन करते थे। वैसे तो ये पांचों धर्म कुत्ते आदि पशुओं में भी हैं, पर आज के ब्राह्मणों में तो वे भी नहीं रहे।

(१) पुराने ब्राह्मण केवल ब्राह्मणी के पास जाते थे, अन्य के पास नहीं। परंतु आजकल अब्राह्मणी के पास भी जाते हैं, जबकि पशु अपनी ही जाति की मादा के पास जाता है। जैसे कुत्ता कुतिया के पास, अकुतिया के पास नहीं।

(२) पुराने ब्राह्मण रजस्वला के पास नहीं जाते थे। परंतु आज रजस्वला के पास भी जाते और उसके पास भी जो रजस्वला न हो। जबकि पशु केवल उसी समय मादा के पास जाते हैं जबकि वह गर्भाधान के योग्य हो।

(३) पुराने ब्राह्मण ब्राह्मणी को न खरीदते थे, न बेचते थे। परस्पर प्रेम से ही सहवास करते थे। परंतु आज के ब्राह्मण खरीदते भी हैं, बेचते भी हैं।

प्रेम से भी और अप्रेम से भी सहवास करते हैं; जबकि पशु न खरीदते हैं, न बेचते हैं और प्रेम से ही सहवास करते हैं।

(४) पुराने ब्राह्मण सोना, चांदी, धन आदि का संचय, संग्रह, परिग्रह नहीं करते थे। परंतु आज के ब्राह्मण यह सब करते हैं; जबकि पशु इस प्रकार का कोई संग्रह, परिग्रह नहीं करते।

(५) पुराने ब्राह्मण सुबह का भोजन सुबह और शाम का भोजन शाम की मांग कर ले आते थे। आज के ब्राह्मण पेट भर खाकर, शेष बांध कर साथ ले जाते हैं। पशु इस प्रकार नहीं करते। वह सुबह का भोजन सुबह और शाम का भोजन शाम को ही खोजते हैं।

पूर्वकाल के ब्राह्मणों के मुकाबले आज के ब्राह्मणों की कैसी दयनीय दशा हो गयी है। ब्राह्मणों को ऐसी दयनीय दशा से उबारने के लिए ही भगवान ने करुण चित्त से चातुर्वर्णी शुद्धि का अभियान चलाया।